‘NISHKASAN’ UPANYAS MEIN SHIKSHA, RAJNEETI AUR STREE ASMITA KA SAWAL

A Dissertation submitted to the University of Hyderabad in partial fulfilment of the degree of

MASTER OF PHILOSOPHY

In

HINDI

2021

Researcher

AMIT KR SINGH

20HHHL01

Supervisor

PROF. RAVI RANJAN

Department of Hindi, School of Humanities

University of Hyderabad

Hyderabad- 500 046

Telangana

India

‘निष्कासन’ उपन्यास में शिक्षा, राजनीति और स्त्री अस्मिता का सवाल

हैदराबाद विश्वविद्यालय की एम.फिल (हिंदी) उपाधि हेतु प्रस्तुत
लघु शोध प्रबंध

2021

शोधार्थी

अमित कुमार सिंह

20HHHL01

शोध-निर्देशक

प्रो. रवि रंजन

हिंदी विभाग, मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद- 500046

तेलंगाना

भारत

DECLARATION

I, **AMIT KR SINGH** (Registration no.- **20HHHL01**) hereby declare that the dissertation entitled **" 'NISHKASAN' UPANYAS MEIN SHIKSHA, RAJNEETI AUR STREE ASMITA KA SAWAL"** ('निष्कासन' उपन्यास में शिक्षा, राजनीति और स्त्री अस्मिता का सवाल) submitted by me under the guidance and supervision of **Prof. RAVI RANJAN** is a bonafide plagiarism free research work. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my dissertation can be deposited in shodhganga/Inflibnet.

Amit Kr Singh

Signature of Student

AMIT KR SINGH

Regd. No. 20HHHL01

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **" 'NISHKASAN' UPANYAS MEIN SHIKSHA, RAJNEETI AUR STREE ASMITA KA SAWAL"** ('निष्कासन' उपन्यास में शिक्षा, राजनीति और स्त्री अस्मिता का सवाल) submitted by **AMIT KR SINGH** bearing Regd. No. **20HHHL01** in partial fulfilment of the requirements for the award of **MASTER OF PHILOSOPHY** in **HINDI** is a bonafide work carried out by him under my supervision and guidance.

As for as I know, This dissertation is free from plagiarism and has not been submitted previously in part or in full to this or any other University or institution for award of any degree or diploma.

Signature of Supervisor

Prof. RAVI RANJAN

Head of the Department

Prof. GAJENDRA KUMAR PATHAK

Dean of the School

Prof. V. KRISHNA

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

भूमिका I-V

प्रथम अध्याय: दूधनाथ सिंह- व्यक्तित्व एवं कृतित्व 1-20

1.1. दूधनाथ सिंह का व्यक्तित्व

1.2. दूधनाथ सिंह का कृतित्व

1.2.1. कहानीकार दूधनाथ सिंह

1.2.2. उपन्यासकार दूधनाथ सिंह

1.2.3. कवि दूधनाथ सिंह

1.2.4. नाटककार दूधनाथ सिंह

1.2.5. आलोचक दूधनाथ सिंह

1.2.6. निबंधकार दूधनाथ सिंह

1.2.7. संस्मरणकार दूधनाथ सिंह

1.2.8. पत्रकार दूधनाथ सिंह

द्वितीय अध्याय: निष्कासन: शिक्षण संस्थान, राजनीति और सत्ता तंत्र पर व्यंग्य 21-66

2.1. शिक्षण संस्थान पर व्यंग्य

2.2. राजनीति पर व्यंग्य

2.3. सत्ता तंत्र पर व्यंग्य

तृतीय अध्याय: 'निष्कासन' में व्यक्त दलित समुदाय एवं स्त्री के प्रति समाज का रुख **67-103**

3.1. दलित समुदाय के प्रति समाज का रुख

3.2. स्त्री के प्रति समाज का रुख

उपसंहार **104-108**

संदर्भ ग्रंथ-सूची

आधार ग्रंथ **109**

सहायक ग्रंथ **109-113**

पत्र-पत्रिकाएं **114**

वेबलिंक **115**

भूमिका

साहित्य और समाज का आपस में गहरा संबंध होता है। समाज में घटित होने वाली प्रत्येक घटना को साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। लेखक जिस समाज में रहता है वह उस समाज की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक गतिविधियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। समाज की प्रत्येक गतिविधियाँ साहित्यकार को प्रभावित करती हैं। अतः इन गतिविधियों से प्रभावित होकर ही साहित्यकार अपना साहित्य सृजन करता है। प्रत्येक साहित्यकार अपने समय की विसगंतियों को अपने साहित्य में स्थान देता है जो उसका नैतिक दायित्व और कर्तव्य भी है।

भारत की आजादी को लेकर लोगों में कितने सपने जगाए गए थे। लेकिन आजादी के बाद वे सारे सपने धरे के धरे रह गए। राजनेताओं की सत्ता लोलुपता ने देश को और गर्त में ढकेल दिया। अतः सन साठ के बाद देश की बदहाल स्थिति को देखते हुए साहित्यकारों ने उसे अपनी रचनाओं के माध्यम से लोगों को परिचय करवाया। सन् साठ के बाद इन रचनाकारों में काशीनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया, गंगा प्रसाद विमल के साथ-साथ दूधनाथ सिंह का नाम भी महत्वपूर्ण रूप से लिया जा सकता है। उनकी रचना सन् साठ के दशक के मोहभंग से उपजी हुई है।

हिंदी कथा साहित्य में दूधनाथ सिंह एक प्रमुख हस्ताक्षर रहे हैं। साहित्य की सभी विधाओं पर इनकी छाप देखी जा सकती है। उनकी प्रसिद्धि एक कहानीकार, कवि, उपन्यासकार, नाटककार, आलोचक, संस्मरणकार एवं पत्रकार के रूप में रही है। कथा में सपाटबयानी इनकी कथा साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है। अपने समय के समाज से गहरे जुड़ाव के कारण इनके साहित्य में तत्कालीन समय के समाज की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थितियों का सजीव वर्णन हुआ है। उन्होंने अपने कथा साहित्य में आम जनमानस की समस्याओं व पीड़ा को बड़ी ही स्पष्टता के साथ स्थान दिया है। वे जनता के पक्ष में बात करने वाले कथाकार रहे हैं। जीवन पर्यंत वे कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय सदस्य रहे। जनवादी लेखक संघ से भी जुड़े हुए थे। अपने समय की राजनीति से वे अच्छी तरह परिचित थे। अतः उनके कथा साहित्य में अवसरवादी, आचरणहीन राजनीति का पर्दाफाश हुआ है। इस प्रकार उन्होंने मुखर होकर बड़े ही बेबाकी के साथ सत्ता तथा सत्ता के दलालों के विरोध में अपनी कलम चलायी है।

शिक्षा किसी भी समाज की बुनियादी जरूरत होती है। शिक्षा के बिना किसी भी समाज की प्रगति की कल्पना नहीं की जा सकती। शिक्षा पर शुरू से ही सवर्णों का विशेष प्रभुत्व रहा है। सदियों से इस प्रभुत्वशाली वर्ग ने हमारे समाज के अभिन्न अंग स्त्री और दलित दोनों को ही उनके अधिकारों से वंचित रखा है। वस्तुतः हमारे सामंतवादी सवर्ण समाज ने सदा से ही देश के इस बहुसंख्यक वर्ग को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। स्त्री यदि दलित हो तो उसकी स्थिति इस सवर्णवादी समाज में और भी बद्तर हो जाती है। सदियों से ही वे इनको शिक्षा से वंचित रखने के लिए षड़यंत्र करते आए हैं।

गौरतलब हो कि विगत कुछ वर्षों से उच्च शिक्षा संस्थानों में दलित छात्र-छात्राओं के साथ उत्पीड़न के मामले देखने को मिलते रहे हैं। शिक्षण संस्थानों में दलित छात्र-छात्राओं की आत्महत्या की घटनाएं विगत कुछ वर्षों में बढ़ी हैं। इसके लिए भेदभाव करने वाले लोग जिम्मेदार हैं जिनका दलितों के प्रति रवैया अभी भी पूरी तरह बदला नहीं है। आज वर्तमान समय में भी ऐसी रुग्ण मानसिकता वाले शिक्षक लोगों में जातिगत नफरत फैलाने का काम कर रहे हैं। आजादी के बाद सत्ता अंग्रेजों के हाथों से सीधे प्रभुत्वशाली वर्ग के हाथों में चली गई। फलस्वरूप परिणाम यह हुआ कि समाज में दलितों और स्त्रियों की स्थिति आजादी के बाद भी अपने पिछले रूप में विद्यमान है। परिणामतः आज भी देश में कई लड़कियाँ और दलित परिवार के बच्चे शिक्षा से वंचित ही रह जाते हैं।

इसके साथ ही आजादी के पश्चात भारतीय राजनीति का समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। संविधान प्रदत्त अधिकारों के कारण इनको राजनीति में जगह तो मिली लेकिन समाज ने इनके प्रति वही रवैया को अपनाए रखा। वर्तमान समय में भी इनकी भागीदारी सवर्ण समाज की दया पर निर्धारित है। सवर्णों के लिए दलित, स्त्री, आदिवासी मात्र एक वोट है, एक संख्या है जिसे वे जब चाहे अपनी राजनीतिक रोटी सेकने के लिए प्रयोग करते हैं। वर्तमान समय की राजनीति में भी उनकी भागीदारी संदेह के घेरे में है। अतः इस लघु शोध के अंतर्गत समाज के इन्हीं बिन्दुओं पर विचार करने का प्रयास किया गया है।

मैंने अपने इस लघु शोध प्रबंध **'निष्कासनः शिक्षा, राजनीति और स्त्री अस्मिता का सवाल'** को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन अध्यायों में विभक्त किया है। इस शोध कार्य को संपन्न बनाने के लिए शोध में मुख्य रूप सें विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक, तुलनात्मक और आलोचनात्मक पद्धतियों के साथ ही मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय पद्धितियों का भी प्रयोग किया गया है।

प्रथम अध्याय है- 'दूधनाथ सिंह- व्यक्तित्व और कृतित्व'- इस अध्याय के अंतर्गत साहित्यकार दूधनाथ सिंह के व्यक्तित्व के साथ-साथ उनके रचनाकर्म का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनके बहुआयामी साहित्यिक रूप को दिखाने का प्रयास किया गया है।

द्वितीय अध्याय है- 'निष्कासनः शिक्षा, राजनीति और सत्ता तंत्र पर व्यंग्य'।इस अध्याय के अंतर्गत स्वातंत्र्योत्तर भारत में शिक्षा व्यवस्था, राजनीति और सत्ता के स्वरूप को दिखाने का प्रयास किया गया है। स्वतंत्रता के साथ सत्ता के हस्तांतरण से हमारा देश, हमारा समाज पर वर्तमान समय की अवसरवादी राजनीति का हमारी शिक्षा व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा इस बात को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

तृतीय अध्याय है- 'निष्कासन में व्यक्त दलित एवं स्त्री के प्रति समाज का रूख'। इस अध्याय के अंतर्गत दलित एवं स्त्री के प्रति हमारे सवर्णवादी पितृसत्तात्मक समाज का रवैया या आचरण कैसा रहा है? इस बात को सामने लाने का प्रयास किया गया है।

उपसंहार के अंतर्गत इस लघु शोध प्रबंध के निष्कर्ष को सार रूप में प्रस्तुत किया गया है। अंत में आधार ग्रंथ, संदर्भ ग्रंथ एवं सहायक ग्रंथों की सूची दी गई है।

प्रस्तावित विषय पर लघु शोध कार्य करने की अनुमति प्रदान करने के लिए मैं हैदराबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के शोध सलाहकार समिति एवं सभी गुरुजनों का आभारी हूँ। इस लघु

शोध प्रबंध को पूर्ण करने में शुरू से लेकर आखिरी तक मेरा मार्गदर्शन करने वाले गुरुवर प्रोफेसर रविरंजन सर के प्रति मैं विशेष आभार प्रकट करता हूँ।

वर्तमान विभागाध्यक्ष प्रोफेसर गजेन्द्र कुमार पाठक सर, प्रोफेसर सच्चिदानंद चतुर्वेदी सर, डॉ. भीम सिंह सर ने जो महत्वपूर्ण सुझाव दिए, इसके लिए मैं उनके प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ। इसके साथ ही इस लघु शोध प्रबंध को पूर्ण करने में मेरी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से मार्गदर्शन देने वाले गुरुजनों, हितचिंतकों एवं आत्मीयजनों का मैं सदा आभारी रहूँगा।

इसके साथ ही मैं मेरे अग्रज कार्तिक कुमार राय, सहपाठी करमचंद, ज्योति, सोनल भैया, अभिषेक भैया जैसे मित्रों को विशेष सहयोग मिला। इसके साथ ही मैं अपने तमाम मित्रों का शुक्रिया अदा करना चाहता हूँ जिन्होंने इस लघु शोध प्रबंध को पूरा करने में मेरी यथासंभव सहायता की।

हैदराबाद विश्वविद्यालय के इंदिरा गांधी स्मृति पुस्तकालय के कर्मचारीगण को भी आभार ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने यथासंभव पुस्तकों को मुहैया करा कर इस लघु शोध को पूरा करने में मेरी सहायता की।

अंततः मैं अपनी माँ और छोटे भाई और अपने परिवार का ऋणी हूँ जिसने मेरे इस लघु शोध को पूर्ण करने में यथा संभव सहयोग दिया। जिसकी वजह से मैं हर तरह की चिंताओं से मुक्त होकर यह लघु शोध कार्य पूरा कर पाया।

अमित कुमार सिंह

अध्याय-1

दूधनाथ सिंह- व्यक्तित्व और कृतित्व

1.1. दूधनाथ सिंह का व्यक्तित्व

हिंदी कथा साहित्य में ‘चार यार’ के नाम से मशहूर लेखकों में शामिल मूर्धन्य व वरिष्ठ कथाकार दूधनाथ सिंह बहुमुखी प्रतिभासंपन्न एक सर्जनशील व संवेदनशील कथाकार रहे हैं। साहित्य के सभी विधाओं- कहानी, कविता, उपन्यास, नाटक, आलोचना, संस्मरण एवं निबंध आदि पर इन्होंने अपनी कलम चलाई। इन्होंने अपने समय की तमाम विसंगतियों, तमाम अंर्तविरोधों और तमाम संकटों का सामना निर्भीक होकर सीधे-सीधे किया। मानव समाज से वे बहुत ही गहरे रूप से जुड़े हुए थे। इनका सारा साहित्य आमजन का साहित्य है। दूधनाथ सिंह जिंदादिली का नाम हैं। वे स्वभाव से निर्मल, निश्चल और सभी से मुक्तहस्त होकर मिलते थे। अपने व्यक्तिगत जीवन में उन्होंने जितने भी कष्ट झेले उसकी नाम मात्र छाया भी अपने बच्चों पर न पड़ने दी। अपने संस्मरण की पुस्तक ‘सबको अमर देखना चाहता हूँ’ में वे अपने विषय में लिखते हैं- ‘‘राजनीति की हड़बोंग से मुझे वैसे भी चिढ़ रही हमेशा। मैं एक छोटे किसान परिवार से आता था। पढ़ लिखकर कोई नौकरी पाना प्रमुख उद्देश्य था। गरीबी किसानी में एक अजब-सा सुनसान था। उसमें डटे रहने के लिए एक मजबूत कद-काठी शारीरिक रूप से परिश्रमी होने की जरूरत थी और मैं एक निहायत दुबला पतला हीन, बार-बार बीमार पड़ने वाला लड़का था। अतः रास्ता एक ही था, इस जीवन से निकल भागो, यहाँ नर्क है। यह जीवन एक हरा-भरा रोमानी स्वर्ग है, जिसके लायक तुम नहीं हो। यह सोचकर मैं पढ़ाई में मेहनत से लगा रहा। मैं एक छुपा रूस्तम था। घरवाले समझते थे कि हमारा बेटा पढ़ने में तेज है। यह नौकरी में जाएगा तो कमाई से घर भर देगा। तब हम गाँव भर को लेकर चैलेंज करेंगे, मारपीट करेंगे, मुकदमें लड़ेंगे, घर पक्का बनवाएँगे, क्या-क्या महत्वाकांक्षाएँ थी, मेरी पढ़ाई को लेकर। मैंने वही किया लेकिन, मैं गाँव लौटने के लिए नहीं आया था।’’[1]

[1] साहित्य विकल्प, पृष्ठ- 7

1.1.1. जन्म और मृत्यु

दूधनाथ सिंह का जन्म 17 अक्टूबर 1936 को उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के सोबंथा नामक एक छोटे से गाँव में हुआ था और निधन 12 जनवरी 2018 को प्रयागराज में हुआ था।

1.1.2. माता-पिता

दूधनाथ सिंह के पिता श्री 'देवकीनन्दन सिंह' पेशे से किसान थे। इनकी माता श्रीमती 'अम्रता सिंह' का इनके बचपन में ही स्वर्गवास हो गया और कुछ वर्षों उपरांत पिता भी दिवंगत हो गए। अतः इनका पालन-पोषण इनकी दादी ने किया।

1.1.3. शिक्षा

दूधनाथ सिंह शैशवावस्था से ही अनोखे प्रतिभा के धनी थे। इन्होंने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा बगल के ही नरही गाँव में अवस्थित प्राथमिक विद्यालय से पूरी की। इन्होंने अपनी माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक की शिक्षा चितबड़ा गाँव में स्थित मर्चेंट इंटर कॉलेज से संपन्न किया। इन्होंने स्नातक की उपाधि बलिया शहर के सतीशचन्द्र कॉलेज से तथा हिंदी साहित्य में परास्नातक की उपाधि इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्राप्त की।

1.1.4. नौकरी

प्रतिभासंपन्न होने के बावजूद दूधनाथ सिंह को अपनी जीविका के लिए काफी मशक़्क़त करनी पड़ी। 1960-62 तक कलकत्ता में अध्यापन का कार्य करने के बाद, वे पुनः इलाहाबाद आए और सन् 1963 में इन्होंने दैनिक समाचार पत्र 'लीडर' में उपसंपादक के पद पर कार्यरत रहे और तत्पश्चात् इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में 26 वर्षों तक सेवारत रहे।

1.1.5. सम्मान

दूधनाथ सिंह को उत्तर प्रदेश का सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान 'भारत भारती सम्मान' तथा मध्य प्रदेश के सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान 'मैथिलीशरण गुप्त सम्मान' से सम्मानित किया गया। इसके साथ ही उन्हें शरद जोशी स्मृति सम्मान, भारतेंदु सम्मान, कथाक्रम सम्मान, साहित्य भूषण सम्मान से भी सम्मानित किया गया । वे जनवादी लेखक संघ के राष्ट्रीय अध्यक्ष भी रहें।

1.1.6. परिवार

दूधनाथ सिंह का विवाह श्रीमती निर्मला ठाकुर से हुआ। इनकी तीन संतानें हुई- दो पुत्र अनिभेष ठाकुर और अंशुमान सिंह तथा एक पुत्री अनुपमा ठाकुर, जिनका विवाह चर्चित साहित्यकार काशीनाथ सिंह के पुत्र से हुआ। वे अपनी पत्नी और बच्चों से बहुत प्रेम करते थे। यही कारण था कि वे साहित्य लेखन से लगभग दस साल दूर रहें। पत्नी के देहांत के बाद उनका जीवन कष्टमय हो गया। अपनी इस पीड़ा को वे अपनी डायरी में अभिव्यक्त करते है –"मैं यहाँ इसलिए हूँ कि इस घर में सबसे पहली मृत्यु मेरी पत्नी की हुई। मैं उसकी मृत्यु को संजोए बैठा हूँ। वह शायद लौट आये। या कभी न आये, जो कि सच है। फिर भी उसके होने की एक आवाज है, अखण्ड प्रशांति में घुली-मिली। क्या सचमुच वह यहीं है!"[1]

1.2. दूधनाथ सिंहः कृतित्व

दूधनाथ सिंह साठोत्तरी पीढ़ी के उन मशहूर कथाकारों में से एक हैं, जिन्होंने साहित्य की सभी विधाओं में अपनी कलम चलाई हैं। इनकी रचनाएँ हमें इनके व्यक्तित्व से रूबरू करा देती हैं। अपने समकालीन लेखकों में दूधनाथ ऐसे लेखक थे, जिन्होंने खुलकर बड़े ही बेबाकी के साथ सत्ता का विरोध किया है। इनके कथा साहित्य में आम मनुष्य की पीड़ा और उससे मुक्ति की छटपटाहट दिखाई पड़ती

[1] साहित्य विकल्प, पृष्ठ- 11

है। इनकी इसी विशेषता को रेखांकित करते हुए सम्पादक विजय अग्रवाल 'साहित्य विकल्प' पत्रिका के संपादकीय में लिखते हैं- "अपने मूल स्वभाव से उपेक्षित और दलितों के पक्षधर होने के कारण दूधनाथ सिंह प्रगतिशील विचारधारा के लोगों के संपर्क में आए और लगभग उनका सारा का सारा साहित्य जनता के पक्ष में समर्पित रहा है।"[1]

1.2.1. कहानीकार दूधनाथ सिंह

कहानी गद्य की एक अत्यंत लोकप्रिय विधा मानी जाती है। इसमें जीवन के किसी विशेष पक्ष का मार्मिक, भावनात्मक और कलात्मक अंकन होता है। इस विधा के माध्यम से अल्प समय में काफी उद्देश्यपूर्ण बातों का चित्रण संभव होता है। दूधनाथ सिंह साठोत्तरी कथा साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। सन् 60 का समय आजादी से मोहभंग का समय था। सभी लेखकों की कलम सत्ता के विरोध में हो चुकी थी। अपनी लेखनी के माध्यम से विरोध दर्ज करने वाले कथाकारों में दूधनाथ अग्रगण्य थे। आजादी के बाद की स्थिति पर व्यंग्य करते हुए, वे अपनी पुस्तक 'अपनी शताब्दी के नाम' में लिखते हैं- "नए बच्चों ने देखा कि गुब्बारे पिचके थे। उनमें हवा नहीं थी और वे उन्हें फुला भी नहीं सकते थे, सब में अनेक छेद थे। जिस आलोक-मंजूषा को नई पीढ़ी ने आदर भाव से ग्रहण किया, उसमें एकदम अंधेरा था। उसके दरक गये शीशे में उल्लू बैठे थे। चारों ओर भूखे, बेसब्र, भ्रष्ट, प्रजातांत्रिक खोल ओढ़े अत्याचारी लोगों की भीड़ थी। नई पीढ़ी ने हार कर एक तिल्ली जलाई और जलाकर बुझा दिया। उसे सब कुछ दिख गया। इस देखने का वह क्या करे, उस प्रजातंत्र का, उस आजादी का, उस भाईचारे का, उस कागजी कार्रवाई का, बड़ी-बड़ी बहसों और विशाल फाटकों के पीछे भूखे लोगों का वह क्या करें? और उसके साथ ही यह भी, साधारण मनुष्य का एक स्वभाव होता है, आशा में जीना। यह आशा उसे इस बात को छिपाए रखती है कि तुम बेहया हो, तुम्हारे लिए इस व्यवस्था में कहीं जगह नहीं है। इस

[1] साहित्य विकल्प, पृष्ठ- 6

तरह की झूठी सांत्वना का साहित्य आज भी लिखा जा रहा है।"[1] अतः समाज की इन विसंगतियों से परिचय करवाने के लिए दूधनाथ सिंह अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत कहानी विधा से ही करते हैं। व्यवस्था के प्रति उनकी आवाज अत्यंत ही मुखर थी। उनकी पहली कहानी 'चौकोर छायाचित्र' 21-22 साल की उम्र में लिखी गयी, जब वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एम.ए. के छात्र थे। यह कहानी हिंदी विभाग की पत्रिका 'कौमुदी' में प्रकाशित हुई थी। कुछ लोग 'तुमने तो नहीं कहा' (धर्मयुग, 1958) को उनकी प्रथम कहानी मानते हैं। लेकिन कथा लेखन में उनको ख्याति दिलाने वाली कहानी 'सपाट चेहरे वाला आदमी' है। कहानीकार के रूप में उन्होंने दर्जनों कहानियाँ लिखकर हिंदी साहित्य की विरासत को समृद्ध किया। इनके द्वारा रचित कहानी संग्रह निम्न हैं-

1. सपाट चेहरे वाला आदमी

इस कहानी संग्रह को दूधनाथ सिंह का प्रथम कहानी संग्रह माना जाता है। इसमें कुल आठ कहानियाँ संग्रहित हैं, जो अपनी अलग-अलग विशेषताएँ लिए हुए हैं। इस संग्रह की कहानियाँ हैं- 1. 'रीछ', 2. 'दुःस्वप्न', 3. 'सब ठीक हो जायेगा', 4. 'प्रतिशोध', 5. 'आइसबर्ग', 6. 'कोरस', 7. 'रक्तपात' और 8. 'सपाट चेहरे वाला आदमी'। इस संग्रह के फ्लैप पर अंकित यह पंक्तियाँ ही इस कहानी संग्रह की सार्थकता को बयाँ कर देती है- "अक्सर ये कहानियाँ 'टेक्सट' और पारिभाषिक शब्दावलियों को नकारती हैं। शब्द-चिप्पियों वाली परिभाषाओं को धक्का देती है। इनमें फ़ैशन और असमर्थता-सूचक बिखराव, कृत्रिम निरर्थकता, भाषाहीनता और आरोपित कथ्यहीनता नहीं है। ये कहानियाँ अकेलेपन की खाली चर्चाओं से अलग, 'अकेले न हो सकने' की क्रूर अनिवार्यता का एहसास अधिक कराती हैं। जीवन की कई-कई तहों को एक साथ टटोलती हुई, आपके हाथों में सूत्रों के कई-कई छोर एक ही साथ पकड़ा देती है। आपकी बनी हुई (सु-) रूचि को नष्ट करने को तत्पर दिखती हैं- एक तीव्र और प्रशान्त शिल्प और सपाट भाषा के सहारे। यदि आप भाषा की इस सपाट काव्यमयता

[1] साहित्य विकल्प, पृष्ठ-9

के भीतर कथ्य के समानान्तर चलते एक दूसरे 'अंतरंग अभिप्राय' को पकड़ लें, तो अचानक आपको अपनी ही आँखों में वह दरार दिख जाएगी, जिसके अन्दर से आप भारतीय जीवन के आन्तरिक 'केऑस' से साक्षात कर सकेंगे। तब आप पाएँगे कि ये कहानियाँ आपको किसी 'सुखद-अनुभव' तक न ले जाकर, वहाँ पहुँचाती हैं, जहाँ आप सहसा अत्यन्त बेचैनी महसूस करने लगते हैं।"[1]

'रीछ' इस संग्रह की पहली कहानी है। यह कहानी अतीत और वर्तमान की सबसे महत्वपूर्ण कहानी है। इस कहानी में एक ओर पत्नी है, जो उस आदमी का वर्तमान जीवन है और दूसरी ओर उसका विफल प्रेम है, जो 'रीछ' के समान उसके वर्तमान जीवन का पीछा करता है। ऐसी स्थिति में सेक्स और संभोग जैसी आनन्दमयी प्रक्रिया घनघोर यातना के समान लगती है। इस कहानी के माध्यम से लेखक यही कहना चाहते हैं कि व्यक्ति को अतीतजीवी नहीं होना चाहिए, नहीं तो अतीत उसके वर्तमान जीवन को नष्ट कर देगा। 'पक्षधर' के संपादकीय में विनोद तिवारी लिखते हैं कि- "'रीछ' हम सबके जीवन की अंडरग्राउंड अंधेरे की प्रेत-छाया है।"[2] इस कहानी के संबंध में मधुरेश लिखते हैं- "अपराध की चेतना से पैदा हुई असहजता किस प्रकार व्यक्तित्व के संतुलन को बिगाड़ती है और किस प्रकार वह चेतना रीछ की तरह आक्रामक एवं भयावह हो सकती है, इसका बड़ा प्रभावशाली अंकन इस कहानी में हुआ है।"[3]

इस संग्रह की दूसरी कहानी है- 'दुःस्वप्न' है। इस कहानी में लेखक मध्यवर्गीय परिवार की विवशता का यथार्थ अंकन करते हैं। इस कहानी का नायक बेरोजगार है, उसके पास करने के लिए कोई काम नहीं है। उसके घर में दो वर्ष का शिशु बीमार है। उसके पास उसकी दवा के लिए पैसे नहीं हैं। अतः वह हर आने जाने वाले व्यक्तियों से सहायता की उम्मीद करता है। इस कहानी में समाज के तथाकथित

[1] सपाट चेहरे वाला आदमी, फ्लैप से

[2] पक्षधर, पृष्ठ- 8

[3] साहित्य विकल्प, पृष्ठ-305

आदर्शवादी लोगों तथा उनके कार्यों के पाखंड का चित्रण हुआ है। यह कहानी राजनीतिक आदर्शों का भी पर्दाफ़ाश करती है और यह दिखाने का प्रयास करती है कि इस क्षेत्र में भी कितनी अराजकता है।

इस संग्रह की तीसरी कहानी है- 'सब ठीक हो जायेगा'। इस कहानी में दूधनाथ समाज की आर्थिक स्थिति को दिखाने का प्रयास करते हैं। जहाँ एक औरत को अपने घर चलाने के लिए वेश्यावृत्ति का सहारा लेना पड़ता है। यह कहानी पाठकों के मन में कामोत्तेजना नहीं जगाती बल्कि समाज की इस तंग बदहाली पर सोचने के लिए विवश करती है।

इस संग्रह की चौथी कहानी है- 'प्रतिशोध'। यह कहानी वर्तमान समय में ध्वस्त हो रहे मानवीय मूल्यों को रेखांकित करते हुए नौकरशाही व्यवस्था के नग्न यथार्थ का चित्रण करते हैं। यह कहानी समकालीन समाज में नौकरशाही व्यवस्था के आतंक को दिखाने का प्रयास करती है, जहाँ पति और पत्नी एक साथ इस व्यवस्था के आतंक को झेल रहे हैं। सरकारी तंत्र इस कदर खटमल की भाँति लोगों को परेशान करता है कि लोग उसका सामना करने से कतराने लगते हैं, जैसा कि इस कहानी के नायक सत्येंद्र के साथ होता है और वह इस क्रूर सरकारी भ्रष्ट तंत्र के आगे समर्पण कर देता है। कथा आलोचक विजयमोहन सिंह इस कहानी की विशेषता को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि- "…'प्रतिशोध' में 'कुछ' है, जो उसे पिछली पीढ़ी की प्रतीकात्मक कहानियों से अलग करता है! उसमें जिस प्रश्न या समस्या को रेखांकित किया गया है, वह बिल्कुल आज की है और जिसे पिछली पीढ़ी की कहानियाँ महसूस नहीं करती थीं! वह सवाल है 'समझौते' का जो आज पूरे युग का प्रधान चरित्र-लक्षण होता है।"[1]

[1] आज की कहानी, पृष्ठ- 91-92

इस संग्रह की अगली कहानी है- 'आइसबर्ग'। इस कहानी में मध्यवर्गीय समस्या को प्रमुख विषय बनाया गया है। इस कहानी में नायक विनय की पत्नी विनय को छोड़कर चली जाती है जो कि एक मध्यवर्गीय परिवार की संत्रास को दिखाती है। इसमें विनय के माध्यम से लेखक अकेलेपन, अवसाद और आंतरिक टूटन का चित्रण करता है।

इसी क्रम में उनकी 'कोरस' और 'रक्तपात' कहानियाँ भी हैं। मानव मन में होने वाले बाहरी उथल-पुथल को देखा और समझा जा सकता है लेकिन उसके अंतःमन में चल रही हलचल को समझना अत्यंत ही कठिन होता है। अतः इसी का प्रतिपादन 'रक्तपात' कहानी में होता है।

इस संग्रह की अंतिम कहानी है- 'सपाट चेहरे वाला आदमी'। यह इस संग्रह की सबसे महत्वपूर्ण कहानी है। वर्तमान समय में मानवीय मूल्यों में होती गिरावटों को यह कहानी रेखांकित करती है। इस कहानी के माध्यम से लेखक ने समाज के नैतिक पतन की ओर भी इशारा किया है। इस कहानी के संदर्भ में मधुरेश लिखते हैं- "'सपाट चेहरे वाला आदमी' और 'रक्तपात' अपने समय की पीड़ा को बड़े सार्थक और कलात्मक ढ़ंग से उभारती है।...'सपाट चेहरे वाला आदमी' अपनी अविश्वसनीय विचित्रता के बावजूद हमारे युग का बड़ा सटीक एवं विशिष्ट प्रतीक है।"[1]

अतः यह कहा जा सकता है कि इस कहानी संग्रह की सभी कहानियाँ अपने आप में बेजोड़ हैं। सभी अपने समय की समस्याओं को बहुत हद तक प्रस्तुत करती हैं। सभी कहानियों के टेक्सट पाठक को न केवल उस यथार्थ से अवगत कराते हैं बल्कि उनके दिमाग को झकझोर कर रख देती हैं।

2. सुखांत

यह इनकी दूसरा कहानी संग्रह है। इस कहानी संग्रह में कुल पाँच कहानियाँ संकलित है। वे कहानियाँ हैं- 1. 'स्वर्गवासी', 2. 'शिनाख्त', 3. 'उत्सव', 4. 'विजेता' और 5. 'सुखान्त'। इस कहानी संग्रह में

[1] साहित्य विकल्प, पृष्ठ-312

अत्यंत ही सहज और सरल भाषा शैली में लेखक के विचार देखने को मिलते हैं। इस कहानी संग्रह की 'स्वर्गवासी' कहानी अणिमा पत्रिका में, 'शिनाख्त' कहानी 'विग्रह' पत्रिका में, 'उत्सव' कहानी 'कथा' पत्रिका में, 'विजेता' कहानी साप्ताहिक पत्रिका 'हिंदुस्तान' में और 'सुखान्त' कहानी 'कथा' पत्रिका में छपी थीं। इस कहानी संग्रह की सभी कहानियों में लेखक पुरुषों की काम भावना का चित्रण करते हैं। इसके मार्फत वे वर्तमान समाज का सजीव दृश्य को आंकने की कोशिश करने के साथ-साथ युवा पीढ़ी को सही मार्ग दिखाने का प्रयास करते हैं। प्रोफेसर रविभूषण 'पक्षधर' पत्रिका के एक लेख में लिखतें है कि- " 'सुखान्त' संग्रह की सभी कहानियाँ 'स्वर्गवासी', 'शिनाख्त', 'उत्सव', 'विजेता' और 'सुखान्त' में चन्द्रभूषण तिवारी ने 'अभिप्राय की अभिव्यक्ति' को 'जीवन के सामान्य उपकरणों से हटकर अथवा उनके निषेध' से मानी है।"[1]

2. प्रेम कथा का अन्त न कोई

यह दूधनाथ सिंह कृत तीसरा कहानी संग्रह है, जिसमें अपने समय के समाज को चित्रित करती कुल पाँच कहानियाँ हैं। ये कहानियाँ हैं- 1. 'नई कहानी' पत्रिका में प्रकाशित 'वे इन्द्रधनुष' (1965), 2. 'सारिका' में प्रकाशित 'बिस्तर' (1963), 3. 'नई कहानी' में प्रकाशित 'ममी तुम उदास क्यों हो' (1965), 4. 'सीखचों के भीतर' और 5. 'सारिका' में प्रकाशित 'आज इतवार था' (1970)। इन कहानियों के प्रकाशन वर्ष पर गौर करें तो यह सभी कहानियाँ सन् 60 के बाद की कहानयाँ हैं। अतः इन कहानियों के मूल में आजादी से मोहभंग है। इस कहानी संग्रह के संबंध में स्वंय दूधनाथ सिंह का कहना है- "ये कहानियाँ ज्यादातर विफल प्रेम (और विफल दाम्पत्य) की कहानियाँ हैं। लेकिन उनमें पौरुष-प्रधान हिंसा नहीं है। इसकी जगह विफलता की नाजुक उदास और सुसंस्कृत स्वीकृति है। इस रूप में ये कहानियाँ मध्यवर्गीय या सामन्ती समाज की हिंसक मनोवृत्तियों से मुक्त है।...इन कहानियों में वह छद्म,

[1] पक्षधर, पृष्ठ- 8

वह छिपाव-दुराव और वह झूठी बचावधर्मिता नहीं है। प्रेम को पाने और उसके भीतर से जिन्दगी की बाँधे रखने के लिए जबरदस्त इच्छाओं का संसार इन कहानियों में व्यक्त है।”[1]

3. धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे

दूधनाथ सिंह कृत सन् 2001 में प्रकाशित यह कहानी संग्रह बहुत ही चर्चित कहानी संग्रह रहा। इस संग्रह में कुल नौ कहानियाँ हैं। जो हिंदी कथा साहित्य में दूधनाथ सिंह की एक अलग छवि निर्मित करती है। इस संग्रह की कहानियाँ हैं- 1. ‘कथा’ पत्रिका में प्रकाशित ‘काशी नरेश से पूछो’ (1992), 2. ‘अन्तर्दृष्टि’ में प्रकाशित ‘रेत’ (1994), 3. ‘समारम्भ’ में प्रकाशित ‘दुर्गन्ध’ (1972), 4. ‘तद्भव’ में प्रकाशित ‘सन्नाटा चाहिए’ (2000), 5. ‘तद्भव’ में प्रकाशित ‘आखिरी छलाँग’ (2000), 6. ‘तद्भव’ में प्रकाशित ‘वारिस’ (2000), 7. ‘तद्भव’ में प्रकाशित ‘नपनी’ (2000), 8. ‘समास-2’ में प्रकाशित ‘वह लौटता नहीं’ ‘प्रेम’ शीर्षक से (1994) और 9. ‘हंस’ में प्रकाशित ‘धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे’ (1995)। प्रस्तुत संग्रह की कहानियों में लोक-रंग का एक अद्भुत चित्रण हुआ है। कहानी की अन्तर्वस्तु, स्थितियों और प्रभावों को एक वृहत्तर पाठक-वर्ग तक ले जाने की क्षमता से युक्त भाषा अपनी विविध-वर्णी संरचना, सहजता, अनायासता और निपट सरलता को यहाँ उपलब्ध करती है। इस संग्रह की कहानियों में कथाकार दुनिया में फन्न और फ़ैशन से अलग, कहानी को किसी भी संक्रामक रीति, नीति से मुक्त करता हुआ भारतीय जनता के यथार्थ को उद्घाटित करने का एक दुस्साहसिक प्रयत्न करता है। धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे इसी जनोन्मुख यथार्थ का एक दस्तावेज है।

4. माई का शोकगीत

‘माई का शोकगीत’ कहानी संग्रह में कुल पाँच कहानियाँ सम्मिलित हैं। स्त्रियों की वेदना, पीड़ा को आधार बनाकर लिखा गया, इस संग्रह की कहानियाँ भारतीय समाज के यथार्थ दृश्य को चित्रित करती

[1] प्रेम कथा का अन्त न कोई, पृष्ठ -1

हैं। इस संग्रह की कहानियाँ हैं- 1. 'समकालीन भारतीय साहित्य' से प्रकाशित 'हुँडार' (1990), 2. 'हंस' से प्रकाशित 'जॉर्ज मेकवान', 3. 'वर्तमान साहित्य' से प्रकाशित 'गुप्त दान', 4. 'वर्तमान साहित्य' से प्रकाशित 'लौटना' (1991), 'कथा दशक' से प्रकाशित 'माई का शोकगीत' (1990)। इस संग्रह की शीर्षक कहानी 'माई का शोकगीत' स्त्रियों पर घरेलू हिंसा का रोमांचकारी दस्तावेज है। इसमें एक स्त्री की कथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन की कथा के समानांतर चलती है और पाठक के सामने यह सवाल छोड़ती है कि राष्ट्रों के इतिहास के समक्ष क्या व्यक्ति का इतिहास कोई अहमियत नहीं रखता? इस कहानी पर टिप्पणी करते हुए प्रोफेसर रविभूषण 'पक्षधर' के एक लेख 'दूधनाथ सिंह की कहानियों का झूठा-सच' में लिखते हैं कि- "'माई का शोकगीत' निजी नहीं है। यह सभी स्त्रियों का शोकगीत है, जिसे मुक्ति-गीत में कहानीकार बदलना चाहता है।"[1]

5. तू फ़ू

अपने समय के समाज की विसंगतियों को प्रतिबिंबित करती 'तू फ़ू' कुल चौदह कहानियों का संग्रह है। इस संग्रह की कहानियाँ है- 1. 'तू फ़ू', 2. 'माननीय न्यायमूर्ती जी लोग और सन्नाटा', 3. 'आख़िरी छलाँग', 4. 'दो पीढ़ियाँ', 5. 'एक सनातन प्रेम कथा' (फ़ैटेसी), 6. 'जलमुर्गियों का शिकार', 7. 'नव्य न्याय', 8. 'टोपी वालेः एक कहानी, दो की ज़बानी', 9. 'पहलवान', 10. 'मसखरा और पिछलग्गू', 11. 'खोये हुए', 12. 'नपनी', 13. '1857 की गाली' और 14. 'नाम में क्या रखा है!' यह कथा संग्रह मनोविज्ञान के साथ-साथ ह्रास हो रही मानवीय मूल्यों के क्षरण को दिखाता है। वर्तमान भ्रष्ट नौकरशाही व्यवस्था का चित्रण इस संग्रह की कहानियों में किया गया है। दूधनाथ सिंह का शोषितों, वंचितों के प्रति पूरी संवेदना इस कथा संग्रह में देखी जा सकती है।

[1] पक्षधर, पृष्ठ- 93

6. जलमुर्गियों का शिकार

इस कथा संग्रह में कुल बारह कहानियाँ संकलित हैं। ये कहानियाँ हैं- 1. 'कालीचरन कहाँ है!', 2. 'इज़्ज़त', 3. 'फूलोंवाली लड़की', 4. 'नरसिंह के नाम प्रेम-पत्र', 5. 'मसखरा और पिछलग्गू', 6. 'अम्माएँ', 7. 'सरहपाद का निर्गमन', 8. 'जलमुर्गियों का शिकार', 9. 'तू फ़ू', 10. 'क्या करूँ साबजी!' 11. 'नाम में क्या रखा है' और 12. 'दस्तक'। यह कथा संग्रह भारतीय पृष्ठभूमि में कथ्य की वह यात्रा है, जहाँ दुख अपनी प्रक्रिया में चौंकाने के बजाय उद्वेलित करता है; सुख सँजोने के बजाय भ्रम तोड़ता है; और संघर्ष सदियों के अवशेषों को देखने की वह दृष्टि देता है, जिससे कोई भी हो निःशब्द नहीं रह जाता। इस कथा संग्रह के माध्यम से पाठक यह अनुभव करेंगे कि दूधनाथ सिंह के लिए लेखन मुक्ति-सृजन के लिए मनुष्य-सृजन का लेखन है।

अतः स्पष्ट है कि एक कहानीकार के रूप में दूधनाथ सिंह का हिंदी कथा साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। अपने समय के समाज से गहरे रूप से जुड़े रहने के कारण इन्होंने अपने समकालीन समाज का एक मुक़म्मल दृश्य को दिखाने का प्रयास किया है। इनकी कहानियों में आजादी के बाद हुए मानवीय मूल्यों के ह्रास के साथ-साथ समकालीन समाज में मध्यवर्गीय परिवारों की समस्या, स्त्री-पुरूष के संबंधों और देश की बदहाल स्थिति को भी देखा जा सकता है। साथ ही राजनीति में सक्रिय होने के कारण वे सत्ता के विरूद्ध बड़े ही बेबाकी के साथ अपनी बातों को रखते हैं। इनकी रचनाओं की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए कवि आलोचक राजेश जोशी 'साहित्य विकल्प' पत्रिका के अपने एक लेख 'आखिरी कलाम याने श्मशान का तद्भव है अयोध्या'में लिखते हैं- ''दूधनाथ सिंह आसान रास्ते चुनने वाले लेखक नहीं हैं। इसलिये उनका पाठ कई अन्तर्पाठों के साथ गुँथा बुना होता है। वे साठोत्तरी के लेखक हैं। पूरे विश्व के स्तर पर यह बहुत हलचलों से भरा समय था। हमारे यहाँ नेहरू युग से मोहभंग को भले ही इस पूरे दौर का एक रूपक मान लिया गया हो, लेकिन भाषा और शिल्प के स्तर पर ही नहीं

विचार और संवेदनाओं की बनी बनायी संरचनाओं और परिपाटियों को तोड़ने का काम इस दौर की रचना और बौद्धिकता ने किया था। दूधनाथ सिंह की रचना में उस दौर का तिर्यक मौजूद है।"[1]

1.2.2. उपन्यासकार दूधनाथ सिंह

दूधनाथ सिंह उन विरले साहित्यकारों में हैं जिन्होंने बहुत कम उपन्यास लिखकर उपन्यास साहित्य जगत में ख्याति प्राप्त कर ली। इन्होंने 'आखिरी कलाम' नामक बहुत मार्मिक और संवेदनशील उपन्यास लिखा और दो लंबी कहानियाँ 'निष्कासन' और 'नमो अंधकारं' लिखीं जिसे बाद में उपन्यास का आकार दे दिया गया। तीनों ही उपन्यास अपने समय के समाज की विसंगतियों की उपज है। इन उपन्यासों में लेखक के वैचारिक प्रतिभा का विशद रूप देखने को मिलता है।

1. निष्कासन

दूधनाथ सिंह का यह प्रथम उपन्यास है जिसका प्रकाशन सन् 2002 में हुआ था। यह उपन्यास विश्वविद्यालयी पृष्ठभूमि को आधार बनाकर लिखा गया एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। यह उपन्यास वर्तमान समय में दलितों के साथ हो रहे शोषण, सवर्णवादी मानसिकता तथा विश्वविद्यालय में हो रही ओछी राजनीति को दिखाता है। यह उपन्यास दलितों के साथ हो रहे शोषण एवं अत्याचार का जीवंत दस्तावेज है। उपन्यास आज़ादी के बाद के लोगों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति का पर्दाफाश किया गया है। इस ब्राह्मणी संस्कृति पर व्यंग्य करते हुए दूधनाथ लिखते हैं- "यह भारतीय ब्राह्मणी संस्कृति का असर है जो चुपके-चुपके वध करती है और उसके लिए एक ख़ूबसूरत मंच और सधे अभिनेता और विचारों की धुँधली रोशनी और तार्किक कुतर्क का संसार रचती है।"[2]

[1] साहित्य विकल्प, पृष्ठ- 191

[2] निष्कासन, पृष्ठ- 26

2. आखिरी कलाम

सन् 2003 में प्रकाशित दूधनाथ की यह कृति है, जो बाबरी मस्जिद के विध्वंस पर लिखा जाने वाला संभवतः पहला उपन्यास है। इस कृति ने हिंदी साहित्य की दुनिया में उन्हें अमर कर दिया। यह उपन्यास हमारे समाज का एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। इस उपन्यास के माध्यम से वे एक बूढ़े प्रोफेसर तत्सत पांडेय के माध्यम से हमें 6 दिसम्बर 1992 के सांप्रदायिक दंगों का यथार्थ चित्रण करते हैं। इस उपन्यास के संबंध में वे स्वयं 'मेरी तरफ़ से' शीर्षक के अंतर्गत लिखते हैं- "दरअसल यह कृति धर्म, संस्कृति और राजनीति के अन्तर-छल का उद्घाटित सूक्त है। हमें इस बात का डर नहीं है कि लोग कितने बिखर जाएँगे, डर यह है कि लोग नितान्त गलत कामों के लिए कितने बर्बर ढंग से संगठित हो जाएँगे। हमारे राजनीतिक जीवन की एक बहुत-बहुत भीतरी परिधि है, जहाँ सर्वानुमति का अवसरवाद फल-फूल रहा है। वहाँ एक आधुनिक बर्बरता की चक्करदार आहट है। ऊपर से सबकुछ शुद्ध-बुद्ध, परम पवित्र, कर्मकांडी, एकान्तिक लेकिन सार्वजनिक, गहन लुभावन लेकिन उबकाई से भरा हुआ, ऑक्सीजन युक्त लेकिन दमघोंटू, उत्तेजक लेकिन प्रशान्त- सारे छल एक साथ। ऐसे ही संविधान-सम्मत जीवन पर यहाँ अनपेक्षित लेकिन वैध टिप्पणियाँ हैं। ऐसे ही जीवन की निर्वसन निशा का चीत्कार है। एक आदमी के जिद्द की आन्तरिक रिपोर्ट है।"[1]

3. नमो अंधकारं

बीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में दूधनाथ सिंह द्वारा लिखा गया यह उपन्यास पिछले पचास वर्षों के राजनीतिक जीवन पर एक सटीक टिप्पणी है। स्वतंत्रता के पश्चात भारत की यह एक मुक़म्मल तस्वीर पेश करता है, जहाँ ठेके पर सेवा है और सेवा ठेंगे पर है। यह उपन्यास समाज में आ रही गिरावट

[1] आखिरी कलाम , पृष्ठ- 8

और मूल्यों के क्षरण को उद्घाटित करता है। यह विघटन 'राग दरबारी' के शिवपालगंज की तरह केवल एक स्थान विशेष या समाज की ही नहीं बल्कि समूचे भारत का प्रतिनिधित्व करता है। इस उपन्यास के विषय में लेखक स्वयं लिखते हैं- "गड़बड़ है। बहुत गड़बड़ है। कुछ भी हो सकता है। तुम पर कोई भी इलज़ाम आ सकता है। किसी पर भी। नहीं, संग-साथ ठीक नहीं। दरअसल, दुनिया एक हिलता हुआ पर्दा है। तुम देख सकते है कि मुर्दे की बगल में कोई संभोग-रत है। या तुम यही कहोगे कि पर्दा हिल रहा है। अनरीयल, अनरीयल- तुम चिल्लाओगे।"[1]

अतः हम देख सकते हैं कि दूधनाथ सिंह अपने जीवन में मात्र तीन ही उपन्यास लिखकर हिंदी साहित्य के उपन्यास जगत में छा गए। ये उपन्यास हिंदी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते है। इनके सारे उपन्यासों की विषय-वस्तु भिन्न-भिन्न हैं जो अपने समकालीन समाज की उपज है।

1.2.3. कवि दूधनाथ सिंह

एक कथाकार के साथ-साथ दूधनाथ सिंह कवि के रूप में भी साहित्य जगत में उल्लेखनीय हैं। समालोचक रघुवंशमणि और कवि अनिल सिंह को दिए एक साक्षात्कार 'प्रतिभा के लिए कोई शर्त नहीं' में दूधनाथ सिंह स्वयं कहते हैं- "कविता का रास्ता मुझसे सधा नहीं इसलिए मैंने छोड़ दिया। मैं उस किसी विधा में लिखना नहीं चाहता जिसमें मुझसे अच्छा लिखने वाला विद्यमान हो। चाहे लोग मुझे जितना मारें पीटें, वे जानते हैं कि कथा साहित्य में मुझसे पार पाना आसान नहीं है।"[2] दूधनाथ सिंह मूलतः कथाकार हैं। इनकी कविताओं में समाज व्यवस्था, वर्तमान जन-जीवन की विसंगतियाँ तथा वास्तविकता का पर्दाफाश हुआ है। उनकी कविता संग्रह है- 1. एक और भी आदमी है, 2. अपनी

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 72

[2] प्रतिभा के लिए कोई शर्त नहीं' (साक्षात्कार- रघुवंशमणि और कवि अनिल सिंह का)- http://wangmaya.blogspot.com

शताब्दी के नाम, 3.युवा खूशबू, 4. तुम्हारे लिए, 5. सुरंग से लौटते हुए (लम्बी कविता)और 6. एक अनाम कवि की कविताएँ।

1.2.4. नाटककार दूधनाथ सिंह

जिस प्रकार बिहारी अपनी एक मात्र रचना सतसई के कारण प्रसिद्ध हुए उसी प्रकार दूधनाथ सिंह भी अपने एकमात्र नाटक 'यमगाथा' के लिए हिंदी नाट्य साहित्य में उल्लेखनीय हैं। यह नाटक एक पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया नाटक है। इस नाटक में इन्होंने पुरूरवा और उर्वशी के पौराणिक मिथक को आधार बनाकर उस कथा को एक नये कलेवर में प्रस्तुत कर उसे एक नवीन अर्थ देने का प्रयास किया गया है। इस नाटक के संबंध में महेश कटारे 'पुनर्पाठ में यमगाथाः कुछ सिलसिले कुछ सोच' नामक अपने एक लेख में लिखते है- "साहित्य में नाटक ही ऐसी विधा है, जो सीधे जन-समूह से जुड़ती है…उसे अपने अनुसार संदेश देती है और शिक्षित करती है। यमगाथा में सीधा संदेश है कि पाखण्डी, क्रूर, विलासी व्यवस्था को बदलो। ऐसे गिरोह का वर्चस्व तोड़ो। पहली लड़ाई भले न जीत पाओ पर आगे जीत होगी ही होगी। आपके बीच से उभरा नेतृत्व ही संघर्ष को आगे बढ़ाकर अंजाम तक ले जायेगा, इसलिए बनाये गए घटाटोप को तोड़ो।"[1]

1.2.5. आलोचक दूधनाथ सिंह

कहानीकार, उपन्यासकार, कवि, नाटककार के साथ-साथ दूधनाथ सिंह की गिनती हिंदी के उच्च कोटि के आलोचकों में होती है। एक आलोचक के रूप में इन्होंने तीन आलोचना ग्रंथ लिखे। 1. निरालाः आत्महंता आस्था, 2. महादेवी 3. मुक्तिबोधः साहित्य में नई प्रवृत्तियाँ। तीनों आलोचना

[1] साहित्य विकल्प, पृष्ठ- 210

कृतियाँ हिंदी साहित्य के महान कवियों निराला, महादेवी वर्मा और मुक्तिबोध के साहित्य का गहन विश्लेषण प्रस्तुत करती है।

1.2.6. निबंधकार दूधनाथ सिंह

निबंध को साहित्य की एक सर्वाधिक विचार प्रधान विधा के रूप में देखा जाता है। एक निबंधकार के रूप में दूधनाथ सिंह ने चार निबंध लिखे हैं। ये निबंध हैं- महाजनी सभ्यता और आज की दुनिया, सुमित्रानंदन पंत का अन्तर्गजन, समकालीन हिंदी कविता में रीतिवाद और कहानी का झूठा-सच। ये चारों निबंध उनकी पुस्तक 'कहासुनी' में प्रकाशित हुए हैं।

1.2.7. संस्मरणकार दूधनाथ सिंह

संस्मरण आधुनिक काल की एक महत्वपूर्ण विधा मानी जाती है। दूधनाथ सिंह ने अपने जीवन काल में दो ही संस्मरणों की रचना की है, जो उन्हें साहित्य जगत में एक संस्मरणकार के रूप में स्थापित करता है । वह है- 'लौट आ ओ धार' और 'सबको अमर देखना चाहता हूँ'। इस संस्मरण में दूधनाथ ने पंत, ज्ञानरंजन, शमशेर और अज्ञेय इन चार साहित्यकारों के जीवन के विविध पहलुओं को उजागर किया है। इस संस्मरण को लेकर हिंदी साहित्य जगत में काफी बहस हुई। उन पर यह आरोप लगाए गए कि इस ग्रंथ में वे पंत, ज्ञानरंजन और अज्ञेय के प्रति अनुदार दिखते हैं जो कि बहुत लोगों को साहित्यिक नहीं, बल्कि व्यक्तिगत लगता है, क्योंकि उनका इन कवियों से बहुत गहरा नाता था। इसका खंडन करते हुए अपने एक साक्षात्कार में वे कहते हैं- ''दरअसल, मैंने इस किताब में संस्मरणात्मक ढ़ंग से एक समृद्ध रचनाकार के धीरे-धीरे बंजर हो जाने की तकलीफों का विश्लेषण किया है। एक रचनाकार के लिए बंजरता का दुख, संतान की मृत्यु के दुख से कम बड़ा नहीं है। यह हमेशा सालता रहता है। इसी क्रम में

दो बड़े कवियों और एक बड़े कथाकार का आलोचनात्मक अन्वेषण किया गया है। इसके पीछे कोई भी व्यक्तिगत कारण नहीं है।"[1]

2.2.8. पत्रकार दूधनाथ सिंह

कहानी, उपन्यास, कविता, आलोचना, निबंध, संस्मरण लिखने के साथ-साथ दूधनाथ सिंह ने साहित्यिक पत्रिका भी निकाली। अन्य रचनाकारों के समान इन्होंने 'पक्षधर' नामक एक पत्रिका भी निकाली लेकिन खेद की बात है कि जब इसका एक ही अंक निकला था कि आपातकाल के दौरान इसको जब्त कर लिया गया। स्पष्ट है कि दूधनाथ सिंह साहसी और निर्भीक किस्म के व्यक्ति थे। लेकिन इसे दुबारा निकालने का इनका मन न हुआ जिसके संदर्भ में समालोचक रघुवंशमणि और कवि अनिल सिंह को दिए एक साक्षात्कार 'प्रतिभा के लिए कोई शर्त नहीं' में वे कहते हैं- "'पक्षधर' को दुबारा निकालना मेरे जैसे आदमी के लिए संभव नहीं था। उसके लिए चलना-फिरना हें-हें, रौब-दाब का प्रदर्शन, जजमानी, चिकटई- मैंने देख लिया कि मुझसे संभव नहीं है। मैं इस मामले में एक अक्षम व्यक्ति हूँ और फिर पत्रिका निकालने से लेखन बन्द होने की संभावना अधिक रहती है।... एक अच्छी पत्रिका निकालना एक 'रचना' को अंजाम देना है। जो दोनो एक साथ कर ले वह महान है। मुझसे एक ही नहीं सधता। आलस, बीमारियाँ, गुस्से घेरे रहते है।"[2]

निष्कर्ष

दूधनाथ सिंह के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सामान्य परिचय के गहन अध्ययन और विश्लेषण के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दूधनाथ सिंह का रचना संसार विशद और समृद्ध है। साठोत्तरी

---

[1] प्रतिभा के लिए कोई शर्त नहीं' (साक्षात्कार- रघुवंशमणि और कवि अनिल सिंह का)- http://wangmaya.blogspot.com

[2] वही

साहित्य में इनके जैसा निर्भीक साहित्यकार नाममात्र है। इनके कथा साहित्य में ह्रास होते मानवीय मूल्यों के क्षरण, तत्कालीन समाज में व्याप्त विसंगतियाँ, शोषितों के प्रति हमदर्दी तथा सत्ता और शोषकों के प्रति विरोध देखने को मिलता है। इन्होंने इतिहास और यथार्थ से टकराते हुए समाज, सत्ता और संस्कृति के बीच निम्न व मध्यवर्गीय अन्तर्गुम्फन को तलछट पर देखने और रचने का जो साहसिक कार्य किया है, उसे आज भी एक सच, एक सबूत, एक विकल्प की तरह दूर से ही देखा जा सकता है। अपने कथा लेखन के बारे में वे स्वयं कहते हैं- "मैं कथा लेखन के लिए कभी नोट्स नहीं लेता। चरित्र का पीछा नहीं करता। बस लिखने बैठ जाता हूँ। तब मुझे ये भी नहीं पता होता कि मेरी कहानी किस दिशा में जाएगी।"[1] अतः स्पष्ट है कि दूधनाथ सिंह एक संवेदनशील रचनाकार है। अपनी जीवन यात्रा में उन्होंने जो देखा, समझा और अनुभव किया उससे ही अपनी साहित्यिक सम्पदा की विरासत को समृद्ध किया।

[1] सपाट चेहरे वाला आदमी, फ्लैप से

अध्याय-2

निष्कासनः शिक्षण संस्थान, राजनीति और सत्ता तंत्र पर व्यंग्य

साहित्य और समाज का आपस में गहरा संबंध होता है। साहित्यकार अपने समय के समाज का दृष्टा होता है। लेखक अपनी रचनाओं में अपने समय के समाज की विसंगतियों से पाठक को परिचित कराता है। एक प्रकार से कहा जाए तो लेखक अपनी रचनाओं के माध्यम से अपने समाज की सामाजिक, आर्थिक, राजनीति एवं संस्कृति को प्रस्तुत करने का एक मुकम्मल प्रयास करता है। फ्रांसीसी विचारक इपॉलित अडोल्फ तेन ने अपने अंग्रेजी साहित्य की भूमिका में लिखा हैं- "कोई साहित्यिक कृति न तो एक व्यक्ति की कल्पना की क्रीड़ा है, न किसी उत्तेजित मन की भटकी हुई अकेली तरंग। वह समकालीन रीति-रिवाजों का पुनर्लेखन है और एक विशेष प्रकार के मानस की अभिव्यक्ति। हम महान रचनाओं से यह जान सकते हैं कि किसी समाज में मनुष्य कैसे सोचता और अनुभव करता है।"[1] कोई भी रचना अपने समय, समाज विशेष की उपज होती है। लेखक का समाज से गहरा नाता होता है। वह अपने समय के समाज में घटित विसंगतियों को कलात्मक ढ़ंग से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। बालकृष्ण भट्ट अपने निबंध 'साहित्य जनसमूह के ह्रदय का विकास है' में लिखते हैं- "प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के मनुष्यों के ह्रदय का आदर्श रूप है। जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिलुप्त रहती है, वे सब उसके भाव उस समय के साहित्य की समालोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं।"[2] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि साहित्यकारों की रचना कोरी कल्पना पर आधारित न होकर उसके यथार्थ जीवनानुभवों पर आधारित होती है जिसे उसने देखा है, भोगा है। अतः साहित्यकार साहित्य में अपने समय के समाज के यथार्थ प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। इस दृष्टि से दूधनाथ सिंह कृत 'निष्कासन' उपन्यास वर्तमान समय में अपने समाज की विसंगतियों को प्रस्तुत करने वाली एक मुकम्मल रचना प्रतीत होती है। इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने स्वतंत्रता के बाद समाज में पनप रही जातिगत भेदभाव की मानसिकता पर कड़ा प्रहार किया है। वे अपने समय की राजनीतिक गतिविधियों से बहुत अच्छी तरह परिचित थे। लंबे समय तक वे अध्ययन-अध्यापन से जुड़े रहे। अतः उन्होंने आजादी के

[1] साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि, पृष्ठ-141-142

[2] वही, पृष्ठ- 73

पश्चात शैक्षणिक परिसर में पनप रही राजनीति को देखा, समझा और उसे अनुभूत किया। अपनी इसी अनुभूति को उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। वे स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं- "अपनी जानकारी के दायरे के बाहर कुछ नहीं लिखता। जो मेरा घर, परिवार, इलाहाबाद, कलकत्ते का माहौल है उसके बाहर नहीं गया मैं। और यह कहना तो थोड़ी बड़बोली होगी, लेकिन मुझे लगता है कि दो-चार-पाँच उपन्यास तो लिखे ही जा सकते है। अगर मैं ठीक ढ़ंग से लिखूँ और अगर जीवित रह जाऊँ। और बेकार वक्त बर्बाद न करूँ।"[1]

स्वतंत्रता के पश्चात हमारे भारतीय समाज की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों में काफी परिवर्तन देखने को मिलता है। स्वतंत्रता-पूर्व आम जनमानस को सुनहरे सपने दिखाए गए थे जो कुछ वर्षों के उपरांत छिन्न-भिन्न हो गये। समाज में सर्वत्र भ्रष्टाचार, जातिगत भेदभाव, साम्प्रदायिक विद्वेष की भावना लोगों में फैल गयी है। सत्ता का क्रूर रूप या यह कहे कि अवसरवादी राजनीति के कारण आम जनता का जीवन पहले से भी और अधिक कष्टमय हो गया। अतः वर्तमान साहित्यकारों की यह नैतिक और समाजिक जिम्मेदारी थी कि वे सत्ता के इस दोहरे रूप को सबके सामने लाएं। साहित्यकारों ने आजादी के बाद के इस कड़वे अनुभव को साहित्य का केन्द्रीय विषय बनाकर स्वातंत्र्योत्तर भारत के सत्ता के विरोध में लिखना करना शुरू कर दिया। इसकी झलक हम तत्कालीन साहित्यकारों के लेखन में देख सकते हैं। इस संबंध में दुष्यंत कुमार की एक कविता है जो समकालीन स्थिति पर करारा व्यंग्य है-

"कहाँ तो तय था चिराग़ाँ हरेक घर के लिए,
कहाँ चिराग़ मयस्सर नहीं शहर के लिए।"[2]

---

[1] पक्षधर, पृष्ठ- 156

[2] साये में धूप, पृष्ठ- 13

2.1. शिक्षण संस्थान पर व्यंग्य

शिक्षा किसी भी समाज की सबसे प्रमुख व बुनियादी जरूरत है। शिक्षा जहाँ एक ओर व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करती है तो वहीं दूसरी ओर उसके समाज के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक गतिविधियों को भी गति प्रदान करती है। एक प्रकार से कहा जाए तो किसी भी देश के वर्तमान स्थिति का आकलन उसके ऐतिहासिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक विकास को देखकर ही होता है और किसी भी समाज का विकास वहाँ की शिक्षा व्यवस्था और राजनीति से सीधे-सीधे प्रभावित होती है। हमारे देश की ऐतिहासिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखने में शिक्षा का अहम योगदान रहा है। शिक्षा लोगों में जागृति लाने का काम करती है और एक जागृत या चेतनशील व्यक्ति ही समाज को संवेदनशील बनाता है। संवेदनशील समाज देश को विकास का मार्ग प्रशस्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। शिक्षा ही वह बड़ा ज़रिया है जिससे किसी समाज को सभ्य बनाया जा सकता है। शिक्षा के माध्यम से ही उस समाज की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, सामाजिक विरासत को सुरक्षित रखा जा सकता है। इसके माध्यम से ही एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी में ज्ञान, परंपरा व संस्कृति का हस्तांतरण होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शिक्षा ही वह माध्यम है जिससे हम अपने भविष्य को सुरक्षित रख सकते हैं। इस संदर्भ में एमिल दुर्खीम की एक पंक्ति दृष्टव्य है- "शिक्षा समाज की आवश्यकताओं को पूरा करती है, जिस प्रकार के कर्मियों एवं विशेषज्ञों की जरूरत होती है, शिक्षा उसकी आपूर्ति करती है। समाज जैसा होता है, शिक्षा वैसी ही होती है। शिक्षा से ही भविष्य के नागरिक तैयार होते हैं।"[1]

भारत में शिक्षा का इतिहास बहुत बड़ा है। पुरातन काल में गुरुकुलों से लेकर आधुनिक काल के तमाम सरकारी और गैर-सरकारी शिक्षण संस्थानों ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। लेकिन शिक्षा के इस इतिहास के भीतर दलित शिक्षा, स्त्री-शिक्षा और उसमें भी दलित स्त्रियों की शिक्षा

[1] समाज शास्त्रीय विचार, पृष्ठ- 444

का स्थान बहुत ही संकुचित रहा है। शिक्षा पर सवर्णवादी पुरुष समाज का एकछत्र राज रहा है। वैदिक काल में प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था परिवारों में तथा उच्च शिक्षा की व्यवस्था गुरुकुलों में होती थी। कहा जाता है कि उस समय हमारा देश धन-धान्य से संपन्न था। जनता का जीवनयापन सुदृढ़ तरीके से चल रही थी। लेकिन उत्तर वैदिक काल में समाज को चार हिस्सों में बाँट जाने से कर्म आधारित समाज जन्म आधारित समाज में बदल गया। परिणामस्वरूप लोगों को वर्ण के अनुसार शिक्षा दी जाने लगी। अतः इस काल के अंत होते-होते शूद्रों को किसी भी प्रकार के शिक्षा ग्रहण करने से वंचित कर दिया गया था। इस संबंध में रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं- ‘‘वैदिक धर्म चार वर्णों में विश्वास करता है और शूद्र को वह वेद-वेदान्त पढ़ने का अधिकार नहीं देता।’’[1] वैदिक काल में भारतीय समाज में पुरुष की भांति स्त्रियों को शिक्षा पाने का अधिकार प्राप्त था। समाज वर्णों में बँटे होने के कारण शिक्षा केवल उच्च घरों के स्त्रियों तक ही सीमित थी। उन्हें ही वेद पढ़ने का अधिकार था दलित स्त्रियों को नहीं। इस सवर्णवादी वर्चस्वशाली व्यवस्था ने शूद्र वर्ण की स्त्रियों को उच्च शिक्षा के अधिकार से पूरी तरह से ही वंचित कर दिया। आज भी यह सवर्णवादी व्यवस्था किसी दलित, स्त्री और दलित स्त्रियों की प्रगति को सहज नहीं ले पाती है। शिक्षा के क्षेत्र में उनकी स्थिति अति दयनीय है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था में शूद्रों और स्त्रियों को शिक्षा ग्रहण करने से पूरी तरह वंचित कर दिया गया था। बौद्ध काल के शुरु के दिनों में भी स्त्री-शिक्षा की यही अवस्था देखने को मिलती है। उन्हें बौद्ध मठों एवं विहारों में प्रवेश नहीं दिया जाता था। किंतु आगे, बौद्ध काल के ही अंतर्गत पहली बार नारी को पुरुष प्रधान समाज के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने का मौका मिला। चूंकि बौद्ध धर्म सवर्णवादी व्यवस्था में फैली विसंगतियों की प्रतिक्रिया में प्रारम्भ हुआ था, अत: उसने शूद्र तथा नारी को आगे आकर समाज की राह में चलना सिखाया। बौद्ध धर्म को ग्रहण करने का अधिकार सभी को मिला। बौद्ध शिक्षा प्रणाली अपने समय की संसार की सर्वश्रेष्ठ शिक्षा व्यवस्था मानी जाती थी। महात्मा बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुणियों को ज्ञान की परंपरा से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया। वे बुद्ध के

[1] संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ-47

उपदेशों को सुन सकती थीं और यहाँ तक कि तर्क में भाग तक ले सकती थीं। इस संबंध में विमल थोरात लिखती हैं- "स्त्री स्वाधीनता के प्रथम प्रणेता तथागत बुद्ध ही थे, जिन्होंने भिक्षुणी संघ में स्त्रियों को प्रवेश देकर पहली बार उन्हें ज्ञान की परंपरा से जोड़ा था।"[1] इस संबंध में डॉ. अल्टेकर ने लिखा है- "स्त्रियों के संघ में प्रवेश करने की आज्ञा से स्त्री शिक्षा को विशेष रूप से समाज के कुलीन एवं व्यावसायिक वर्गों की शिक्षा को काफी प्रोत्साहन मिला।"[2]

अंग्रेजों के आने के पश्चात भारतीय शिक्षा व्यवस्था में आमूल परिवर्तन लक्षित किया गया। अंग्रेजी राज व्यवस्था ने शिक्षा में कुछ महत्वपूर्ण सुधार किए तथापि दलित समुदाय की शिक्षा के प्रति उन्होंने भी विशेष ध्यान नहीं दिया। तब यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि समाज में स्त्री-शिक्षा और दलित स्त्री की शिक्षा की हालत क्या होगी? आजादी के रुप में सत्ता अंग्रेजों से सवर्णों के हाथ में चली गयी। आजादी के इतने वर्षों बाद भी भारतीय शिक्षा व्यवस्था में दलितों और महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित नहीं हो सकी है जबकि संविधान ने जरूर इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज भी देश के बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में लिंग भेद तथा जातिगत भेदभाव देखा जा सकता है। अतः स्वतंत्रता के पश्चात शैक्षिक परिसर जीवन का एक ऐसा ही नग्न यथार्थ सामने आया जो इसके पूर्व न था। विदित हो कि ऐसे समय में साहित्यकारों का ध्यान विश्वविद्यालयों में अवसरवादी राजनीतिक हस्तक्षेप के साथ-साथ समाज में व्याप्त गंदगी जैसे जातिवाद, सम्प्रदायवाद जैसे कुकृत्यों पर भी गया। राजनीतिक दलों के हस्तक्षेप से विद्यालयों में सकारात्मक परिवर्तन की तुलना में कहीं ज्यादा नकारात्मक परिवर्तन भी लक्ष्य किए गए। डॉ. सत्यकेतु सांकृत इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि- "छात्र संघ के साथ परिसर के बाहर की गन्दी राजनीति, जो जातिवाद, सम्प्रदायवाद और धन तथा गुंडागर्दी पर आधारित थी, परिसर में भी प्रविष्ट हो गयी।"[3]

[1] दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, पृष्ठ- 70

[2] भारतीय शिक्षा का इतिहास, पृष्ठ- 55

[3] हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ- 443

भारतीय शिक्षा व्यवस्था ने जहाँ एक ओर एक समुदाय विशेष को ही शिक्षित करने का कार्य किया वहीं दूसरी ओर समाज के बहुसंख्यक वर्ग दलित और स्त्री को शिक्षा से वैसे ही वंचित रखा। इसके पिछे के कारणों को उद्घाटित करते हुए रमणिका गुप्ता लिखती हैं- "दुर्भाग्यवश हमारे देश की सामाजिक व्यवस्था ने देश की जनता के एक बड़े हिस्से को शिक्षा से इस लिए वंचित रखा ताकि वह अभिव्यक्ति की ताकत हासिल न कर सके- अपनी पहचान न बना सके और न ही आत्मसम्मान और स्वाभिमान की कभी सोच सके। वह सदा हीन भावना से ग्रसित हो, समाज के एक छोटे तबके की दया पर आश्रित रहे और परजीवी बना रहे।"[1]

शिक्षण संस्थानों पर शुरू से ही सवर्ण समाज का आधिपत्य रहा है। अतः दलित समुदाय और स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखने का विचार इस सवर्णवादी समाज का आज का नहीं बहुत पहले का है। आजादी के बाद संविधान प्रदत्त अधिकारों के कारण दलितों में शिक्षा के स्तर में थोड़ी वृद्धि तो हुई है, पर यह सवर्णवादी समाजिक व्यवस्था अभी भी उसके मार्ग में दीवार बनी हुई है। वर्तमान समय में भी देश के बड़े से बड़े शिक्षण संस्थान में यह जातिगत भेदभाव की व्यवस्था लक्षित की जा सकती है। इस सवर्णवादी व्यवस्था ने लोकतंत्र की जड़ों को हिला करके रख दिया हैं। दलितों और आदिवासियों के साथ थाने से लेकर न्यायालय और शिक्षण संस्थानों तक में भेदभाव किया जाता है। इस संबंध में ओमप्रकाश वाल्मीकि 'जूठन' में लिखते हैं- "दलित पढ़-लिखकर समाज की मुख्यधारा से जुड़ना चाहते हैं, लेकिन सवर्ण (?) उन्हें इस धारा से रोकता है। उनसे भेदभाव बरतता है। अपने से हीन मानता है। उसकी बुद्धिमत्ता, योग्यता, कार्यकुशलता पर सन्देह व्यक्त किया जाता है। प्रताड़ित करने के तमाम हथकंडे अपनाए जाते हैं। इस पीड़ा को वही जानता है जिसने इसकी विभीषिका के नश्तर अपनी त्वचा पर सहे हैं। जिसने जिस्म को सिर्फ बाहर से ही घायल नहीं किया है अन्दर से भी छिन्न-भिन्न कर दिया है।"[2]

---

[1] दलित हस्तक्षेप, पृष्ठ- 131

[2] जूठन (प्रथम खंड), पृष्ठ- 155

दूधनाथ सिंह का 'निष्कासन' उपन्यास शिक्षण व्यवस्था में दलित छात्र-छात्राओं के साथ हो रहे शोषण का एक जीवंत दस्तावेज है। इन्होंने इस उपन्यास में समाज के नग्न यथार्थ को दिखाने का एक निर्भीक प्रयास किया है। इस उपन्यास के कथा, संवादों व घटनाओं के माध्यम से समाज में व्याप्त जातिवाद जैसे कुरीति को रेखांकित किया गया है। यह उपन्यास पाठक हिला कर रख देता है। इस उपन्यास के कथा के माध्यम से दूधनाथ सिंह ने शिक्षण संस्थानों में दलित छात्र-छात्राओं के प्रति सवर्ण समाज के रवैये को दर्शाया है। इस उपन्यास पर टिप्पणी करते हुए विभु प्रकाश सिंह अपने एक लेख में लिखते हैं- "भारतीय विश्वविद्यालय जिन्हें ज्ञान और उज्ज्वल चेतना के प्रसार का वाहक होना था, वे क्रमशः ओछी राजनीति सवर्णवाद, स्वार्थपरकता और जड़ता के गढ़ बनते गए। इसी सड़ांध भरी विश्वविद्यालयी पृष्ठभूमि में एक दलित लड़की के संघर्षों का आख्यान है- निष्कासन।"[1]

स्वाधीन भारत को लेकर लोगों ने तमाम सपने संजोए थे लेकिन आजादी के बाद स्थिति सुधरने के बजाय बिगड़ती ही चली गयी। सत्ता अंग्रेजों के हाथों से अवसरवादी तत्वों के हाथों में चली गयी। आजादी की लड़ाई में छात्रों का भी विशेष योगदान रहा। फलतः आजादी के बाद शिक्षण संस्थानों में राजनीति का प्रवेश हुआ पर इस राजनीति ने सकारात्मक परिवर्तन के साथ-साथ समाज की जातिगत, लिंग भेद जैसी नकारात्मक परिवर्तन को भी लक्ष्य किया गया। इस नकारात्मक परिवर्तन को साहित्यकारों ने भी नोटिस किया और इसके विरोध में अपनी कलम चलायी। इस संबंध में गोपाल राय लिखते हैं- "स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद परिसर-जीवन में सकारात्मक परिवर्तन भी हुए, पर उनकी तुलना में कहीं ज्यादा नकारात्मक परिवर्तन हुए, जिनकी अनुगूँज हिंदी उपन्यासों में भी सुनाई पड़ती है। परिसर जीवन की गतिविधियों में राजनीतिक दलों का हस्तक्षेप छठे दशक में ही शुरू हो चुका था। सातवें दशक में तो परिसर राजनीतिक दलों का चरागाह बन गया।"[2] अतः हम देख सकते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय

[1] पक्षधर, पष्ठ- 151

[2] हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ- 443

राजनीति ने आम जनमानस में आमूलचूल परिवर्तन ला दिया जिसने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से आम जनमानस को प्रभावित किया।

शैक्षिक संस्थानों में दिन प्रतिदिन राजनीति का दबदबा बढ़ने से शिक्षा व्यवस्था पर इसका बहुत नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। वस्तुतः स्वतंत्र भारत में साक्षर और शिक्षितों की संख्या में वृद्धि तो हुई है लेकिन जहाँ बात शैक्षिक मूल्यों की आती है तो भारतीय शिक्षा व्यवस्था की इस मामले में विशेष उल्लेखनीय उपलब्धि दृष्टिगोचर नहीं होती हैं। आज की शिक्षा व्यवस्था की निरर्थकता की ओर संकेत करते हुए श्रीलाल शुक्ल 'राग दरबारी' में लिखते हैं- "ये साली टेक्स्ट बुकें, समझ लीजिए, सड़े-गले फल ही हैं। लौंडों के पेट में इन्हीं को भरते रहते हैं। कोई हजम करता है, कोई कै करता है।"[1] वर्तमान समय की शिक्षा की विफलता ही है कि वह जनमानस में अपने परिवेश, पर्यावरण, आस-पड़ोस के लोगों के प्रति संवेदना को जागृत करने में असफल ही साबित हुई है। आज की शिक्षा प्रणाली ने लोगों को यांत्रिक बना दिया है। शिक्षाविद् प्रो. कृष्ण कुमार इस संदर्भ में लिखते हैं - "देश में लोकतंत्र की जड़ों को मजबूत बनाने में शिक्षा ने मदद नहीं दी। न ही उसने सामाजिक व्यवस्था की जमीन से सामंती और औपनिवेशिक तत्वों को निकालने में मदद की। और गहरे जाएँ तो हम कह सकते हैं कि हमारी शिक्षा-व्यवस्था ने तर्क और विवेक की भाषा को लोकप्रिय बनाने की कोशिश नहीं की। सत्य को ढूँढ़ने और उसे ढूँढ़कर दूसरे को दिखाने के लिए भाषा की शिक्षा न हमारी पाठशालाओं में दी जा रही है, न हमारे विश्वविद्यालयों में। इन संस्थानों में दी जा रही शिक्षा सत्य से, जीवन से, अपने समाज के यथार्थ से, अपने परिवेश और पर्यावरण से जी चुराना सिखाती है, इनसे जुड़ना और जूझना नहीं सिखाती। नारी-पुरूष संबंधों में आज हम जैसी संवेदनशून्यता देखते हैं, महँगी और विकसित मशीनों के इस्तेमाल में जैसी फिजूलखर्ची और विवेकहीनता देखते हैं, अपनी जमीन, आबोहवा और पेड़-पौधों के प्रति जैसी नृशंसता देखते हैं, उसकी जड़ में शिक्षा की विफलता ही है।"[2] अतः स्पष्ट है कि यद्यपि वर्तमान समय की शिक्षा

---

[1] राग दरबारी, पृष्ठ- 156

[2] राज, समाज और शिक्षा, पृष्ठ- 147

तकनीकी के मामले में समृद्ध कर रही है तथापि दूसरी ओर समाज को संवेदना शून्य, संवेदना विहीन करती जा रही है। इस उपन्यास में भी हम देखते हैं कि सवर्णवादी मैडम डॉ. महिष्मति सिंह जो अपने देश की सर्वाधिक फ़ैशनेबिल और आधुनिक विश्वविद्यालय की छात्रा थी, लेकिन वही निर्धन दलित छात्राओं का शोषण कर रही है। लेखक ने समाज के ऐसे कुम्भीपाक शिक्षकों के चरित्र पर सटीक व्यंग्य किया है- "ऐसी ही झुँझलाहट में हजारीबाग के एक बिहारी ने चुनाव की भरी सभा में चिल्ला कर कहा था- छिनाल नम्बर कुम्भीपाक। मैम, जो चुनावी मैदान में थीं और लड़कियों की मुक्ति पर दहाड़ रही थीं, एकाएक सन्नाटे में आ गयीं।...यह बात दूसरी है कि मैम नारी-मुक्ति के उस चढ़बाँक आन्दोलन में इक्कीस मतों से हार गयीं और उन्होंने राजनीति से सदा के लिए संन्यास ले लिया। लेकिन चालाक तरीके और दूर दृष्टि, पक्के इरादे के साथ उन्होंने सारी डिग्रियाँ हासिल कीं और प्रदेश के इस 'जंगली' और 'असभ्य' विश्वविद्यालय में आ कर बम की तरह फट पड़ीं। इस अचानक विस्फोट से बहुत लोग घायल हुए। अध्यापक तो अध्यापक, कई भोले-भाले छात्रों को भी छर्रे लगे और बहुत सारे लोग बहुत समय बीत जाने पर भी एकान्त अँधेरों में आनन्द के अतिरेक में 'आह-आह' करते हुए पाये जाते हैं। वैसे मैम को किसिम-किसिम के स्वाद बहुत पसन्द हैं। काफ़ी दिनों तक वे विदेशी ब्रांडों की फ़ैन रहीं और जनता-जनार्दन का कहना था कि वे देसी स्वाद पर लौटने वाली नहीं। लेकिन मैम ने धीर-धीरे महसूस किया कि इनमें वो नशा कहाँ, जो देशी ब्रांड में है। कभी-कभी पन्नी हो तो बेहतर, क्योंकि उसकी तासीर बड़ी ज़बर्दस्त होती है लेकिन अब ज़्यादातर मैम मिलिटरी पर निर्भर करती हैं- वेल-पैक्ड, खाँटी और स्मार्ट।"[1] लेखक ने इन पंक्तियों के माध्यम से अपने को आधुनिक कहने वाली सवर्णवादी मैडम के चरित्र और वर्तमान समय के विश्वविद्यालय को जंगली और असभ्य कहकर उस पर करारा व्यंग्य किया है। उपन्यास की मुख्य पात्र खटिक समुदाय की वह लड़की है जो अपनी शिक्षा को जारी रखने के लिए स्वतंत्र भारत के ऐसे ही जंगली और असभ्य विश्वविद्यालय में दाखिला लेती है। जहाँ लेखक के शब्दों में कहे तो- "शिक्षा के अस्तित्व का संग्राम छिड़ा होता है और जिसमें बिना घायल हुए बच निकलना

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 29-30

बड़ा ही कठिन होता है...यहाँ सबसे पहली समस्या ऐडमिशन और फिर हॉस्टल में ऐडमिशन की होती है।"[1]

देश में दलितों के पिछड़ने का एक कारण उनकी निर्धनता है। जिसकी वजह से कई योग्य व्यक्ति शिक्षा से वंचित ही रह जाते है। उपन्यास की लड़की की माली हालत अत्यंत ही दयनीय है जिसका हृदय-द्रावक वर्णन करते हुए लेखक लिखते हैं- "बड़ी बहन उसको देखती है तो खुश होती है। वह सोचती है कि चलो, छोटी बहन मेरी तरह सुखंडी नहीं है और उसे कोई न कोई पसन्द कर ही लेगा।...लड़की को एक ही सुकून है कि चलो, गोपेश्वर में बड़ी बहन के तन पर कपड़ो की इतनी तहें होंगी कि उसका उकठाहुआपन ढँका रहता होगा। आप समझ सकते हैं कि यह सुकून कितने बेतुके ढ़ंग से हृदय-द्रावक है।"[2] लेखक ने उसकी आर्थिक स्थिति को दिखाते हुए यह प्रश्न हमारे समक्ष छोड़ जाते हैं कि आजादी के पचहत्तर वर्ष बाद भी उस समुदाय की स्थिति में कितना सुधार हुआ है? उनकी सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए कितनों ने प्रयास किया है या कर रहें हैं? जिस देश में बालिकाओं को मुफ्त शिक्षा दी जानी चाहिए वहाँ वर्तमान समय में शिक्षा के बाजारीकरण ने इस तबके के लोगों को शिक्षा से और दूर कर दिया है। यद्यपि लड़की पढ़ने में अव्वल है और आरक्षित कोटे से उसका दाखिला भी हो जाता है लेकिन इस समाज से उसकी उन्नति देखी नहीं जाती। छात्रावास न मिलने के कारण लड़की अपनी बहन के कमरे में रहना चाहती है, लेकिन मैडम उससे दस हजार रुपये की मांग करती है और उस हॉस्टल में ऐसी पैंसठ और लड़कियाँ है। मैम इन सबसे पैसे लेकर उन्हें हॉस्टल में रहने देती हैं। आधुनिक समाज की सवर्णवादी मैम को यह कतई फर्क नहीं पड़ता की निर्धन परिवार से आने वाली ये लड़कियाँ इतने रुपये एकमुश्त कहाँ से लाकर देंगी? लेखक लिखते हैं कि- "चिपकी हुई लड़कियों का यूनिवर्सिटी अतिथि-शुल्क जो भी हो, अधीक्षिका यानी मैम उन्हें बता देती हैं कि चिपकने की कीमत

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 21

[2] वही, पृष्ठ- 12

क्या है। कीमत मंजूर हो तो आओ और चिपक जाओ, न मंजूर हो तो चूल्हेभाड़ में जाओ। बाहर भेड़िये हैं, दिन-दहाड़े उठा ले जायेंगे।"[1]

भारतीय समाज में शिक्षण संस्थानों पर एक वर्ग विशेष का आधिपत्य देखने को मिलता है जिसमें दलित समुदाय के छात्र-छात्राओं को कई प्रकार से प्रताड़ित किया जाता रहा है। उसे उसके नाम से नहीं पुकारना या जाति सूचक गालियाँ देना उसे तरह-तरह से अपमानित करना आदि घटनाएँ आज भी घटती रहती हैं। वस्तुतः दलितों को लेकर हमारी शिक्षा व्यवस्था हमेशा से ही उदासीन दिखायी पड़ती है। सवर्ण शिक्षकों का दलित विद्यार्थियों के प्रति रवैया अच्छा नहीं रहा है जबकि वर्तमान स्थिति में थोड़ी सुधार देखने को मिलती है। सदियों से ही सवर्ण शिक्षकों ने इस समुदाय के शिक्षार्थियों को शिक्षा से वंचित रखा है और जब इनमें से कुछ साहस कर आगे बढ़ने की कोशिश करते है तो यह वर्चस्वशाली सवर्णवादी समाज उसे आगे बढ़ने से रोकता रहता है। इस उपन्यास में लड़की भी अपनी आर्थिक व सामाजिक कठिनाइयों को पार करते हुए शिक्षा के लिए अपने कदम आगे बढ़ाती है लेकिन यह सवर्णवादी समाज उसे इस कदर परेशान करता है कि वह आत्महत्या करने को विवश हो जाती है। दलित छात्रों के साथ सवर्णवादी शिक्षकों के रवैये को तमाम दलित आत्मकथाओं में देखा जा सकता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' में भी इस यथार्थ दृश्य को देखा जा सकता है जब वह अपने शिक्षक से एक सवाल कर लेते हैं कि अश्वत्थामा को तो दूध की जगह आटे का घोल पिलाया गया और हमें चावल का माँड़। फिर किसी भी महाकाव्य में हमारा जिक्र क्यों नहीं आता है? किसी महाकवि ने हमारे जीवन पर एक भी शब्द क्यों नहीं लिखा? उनका इतना ही पूछना था कि मास्टर साहब ने अपनी छड़ी से उनके पीठ पर महाकाव्य लिख दिया। जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं- "चूहड़े के, तू द्रोणाचार्य से अपनी बराबरी करे है...ले तेरे ऊपर मैं महाकाव्य लिखूँगा...उसने मेरी पीठ पर सटाक-सटाक छड़ी से महाकाव्य रच दिया था। वह महाकाव्य आज भी मेरी पीठ पर अंकित है। भूख और

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 13

असहाय जीवन के घृणित क्षणों में सामन्ती सोच का यह महाकाव्य मेरी पीठ पर ही नहीं, मेरे मस्तिष्क के रेशे-रेशे पर अंकित है।"[1]

दूधनाथ सिंह ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि जिस समाज में दलितों की स्थिति इतनी मार्मिक हो वहाँ दलितों में भी दलित स्त्री की सामाजिक अवस्थिति क्या होगी? वर्तमान समय में यद्यपि लड़कियों को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित किया जाता है लेकिन प्रश्न है कि क्या इस पुरूषवादी समाज की मानसिकता में कोई परिवर्तन हुआ है या यह केवल नारेबाजी है? इस संबंध में सुशीला टकभौरे लिखती हैं कि- "ऊपरी व्यवहार की सौजन्यता, सामाजिक जड़ मानसिकता का आईना नहीं हो सकती। उस आईने का चेहरा बहुत विद्रूप है, वीभत्स है। उसे छिपाने के लिए ही सौजन्यता का ताना-बाना ओढ़ा जाता है।"[2] विदित हो कि आज भी लड़कियां हमारे समाज में खुलकर जी नहीं सकती हैं। लेखक स्वतंत्र भारत की इसी सामाजिक स्थिति पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि- "इस शहर में बाहर रह कर बाहर से आने वाली कोई लड़की पढ़ाई नहीं कर सकती। लड़के ने हँस कर कहा कि शायद इस देश के किसी भी शहर में नहीं।"[3] इस उपन्यास की दलित लड़की भी शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपने घर को छोड़ देश के तथाकथित बड़े विश्वविद्यालय में दाखिला लेती है। लेकिन यह सवर्णवादी समाज उसके मार्ग में रोड़ा बनकर खड़ा हो जाता है। वह इस सवर्णवादी समाज से लोहा लेने का भरसक प्रयास करती है लेकिन अंततः यह सवर्णवादी समाज उसे आत्महत्या करने पर विवश कर ही देता है। लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि यद्यपि वह लड़की पढ़ने में ज़हीन थी लेकिन यह पुरूषवादी समाज किसी स्त्री और विशेषकर किसी दलित स्त्री को अपने से आगे बढ़ते हुए कैसे देख सकता है? यह भारतीय समाज की एक कड़वी सच्चाई है जिसे दरकिनार नहीं किया जा सकता है कि दलित स्त्रियों को हमारे समाज में दोहरे शोषण का शिकार होना पड़ता है। इस संबंध में गीता सिंह लिखती हैं कि- "शिक्षा के नाम पर सवर्णों ने मनुस्मृति का ही पाठ किया है। सवर्ण स्त्रियों का दलित स्त्रियों के प्रति वही रवैया है

---

[1] जूठन, पृष्ठ-35

[2] अम्बेडकरवादी स्त्री-चिंतन, पृष्ठ- 96

[3] निष्कासन, पृष्ठ-16

जो पूरे सवर्ण समाज का है- अलग से समझने, परखने की जरूरत है। दलित स्त्रियों और गैर-दलित स्त्रियों के अनुभव भिन्न हैं और मेरा ऐसा मानना है कि इस 'भिन्नता' को समझे बिना कोई भी विमर्श बेमानी है। एक दलित स्त्री सवर्ण स्त्री के बीच भी स्वयं को असहज ही पाती है। दलित समाज में पैदा होने का दंश और कदम-कदम पर अपमानित किए जाने का क्षोभ प्रत्येक दलित के मन में है। जीवनपर्यंत वह अपनी इस पहचान से मुक्त नहीं हो पाता है।"[1] इस उपन्यास में भी हम देख सकते हैं कि सारे संघर्षों को पार करती हुई जब वह लड़की अपने जीवन की एक नयी शुरूआत करने के लिए अपने कदम आगे बढ़ाती है तो उसके समक्ष दलित बनाम सवर्ण की ओछी राजनीति शुरू हो जाती है जिसके चक्रव्यूह में फंसकर वह लड़की आत्महत्या कर लेती है। बड़ी बहन की गोपेश्वर में तदर्थ नियुक्ति हो जाती है। बड़ी बहन इसी मृदुला सारभाई छात्रावास में पिछले पाँच वर्षों से रह रही थी और सवर्णवादी मैम की प्रताड़ना झेल चुकी थी। तभी वह अपनी बहन को हिदायत देती हुई कहती है कि- "हॉस्टल में किसी की बात पर कान मत देना। और मैम से शिकायत मत करना। कुछ सुनाई भी पड़ जाय तो पी जाना। हमारे बारे में अपमानजनक बातें होती ही रहती हैं। और क्लॉस में भी। अपना काम करना है चुपचाप।"[2] जब तक उसकी नियुक्ति नहीं हुई थी वह अपनी बहन को बचाती रही, लेकिन उसके जाने के बाद से ही समाज के ये भेड़िए उसे परेशान करना शुरू कर देते हैं। यद्यपि बड़ी बहन की तदर्थ नियुक्ति से एक ओर उसकी आर्थिक परेशानियाँ थोड़ी कम होती है तो वहीं दूसरी ओर उस पर सामाजिक परेशानियाँ बढ़ जाती हैं। उसे तरह-तरह से परेशान किया जाता है। रास्ते में, कैम्पस में, क्लास में, हॉस्टल में, नहानघर हर जगह उसे परेशान किया जाने लगा। इस स्थिति का वर्णन करते हुए लेखक लिखते हैं- "बड़ी बहन के जाने से जहाँ पैसों की कुछ सुविधा हुई वहीं छोटी बहन, यानी हमारी कहानी की लड़की की बहुत सारी समस्याएँ विकराल रूप से बढ़ गयीं। यूनिवर्सिटी कैम्पस में, क्लास में, आते-जाते, और हॉस्टल में, मेस में, लेवेटरी और नहानघर में। और तो और, मैम के साथ भी।"[3]

[1] अम्बेडकरवादी स्त्री-चिंतन, पृष्ठ- 217

[2] निष्कासन, पृष्ठ- 23

[3] वही, पृष्ठ- 24

दूधनाथ सिंह का यह उपन्यास विश्वविद्यालय परिसर में सवर्ण शिक्षकों की जातिवादी मानसिकता का यथार्थ वर्णन करता है। वर्तमान समय में भी देश के तमाम बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में यही स्थिति देखने को मिल ही जाती है। वर्तमान समय में भी सवर्ण शिक्षकों की मानसिकता दलित छात्रों के प्रति पूरी तरह बदल नहीं पाई है। यही कारण है कि आज भी देश के तमाम शिक्षण संस्थानों में दलित विद्यार्थियों के साथ जातिगत भेदभाव, यौन शोषण या उनकी आत्महत्या की दर्दनाक ख़बरें सुनने को मिल ही जाती हैं। यह उपन्यास इस बात को भी रेखांकित करता है कि जब समाज के विकास की आधार-भूमि शिक्षण संस्थान को ही व्यभिचारियों का अड्डा बना दिया जाए तो समाज के निर्माण में ऐसे शिक्षण संस्थानों की भूमिका क्या होगी? यह उपन्यास शिक्षण संस्थानों में जातिगत भेदभाव के साथ ही इस सवर्ण समाज की इस कुकृत्यों से भी रूबरू करवाती है। सवर्ण परिवार से आने वाली मैडम डॉ. महिष्मति सिंह ने मृदुला साराभाई छात्रावास को चकलाघर बना दिया है। इस कुकृत्य में विश्वविद्यालय के कुलपति से लैकर मैडम की नौकरानी सभी लिप्त है। जब मैडम उस लड़की को बुलाती है तो मैम के साथ दो नौकरानियाँ है जिनकी नियुक्ति तो विश्वविद्यालय के कार्यों के लिए हुआ है, लेकिन मैम उन्हें अपने व्यक्तिगत कार्यों के लिए उपयोग करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों नौकरानियाँ शिक्षित हैं लेकिन उन्होंने कभी भी मैम के इस कुकृत्य का विरोध नहीं किया बल्कि वे भी इस कुकृत्य को देखने की वे आदी हो गयी हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो उनकी भी संवेदना मर चुकी है। लेखक लिखते हैं- "साथ में दो नोकरानियाँ भी हैं। अधीक्षिका यानी मैम उनमें से एक को खानसामिन बुलाती हैं और दूसरी को माई। तो खानसामिन और माई , दोनों उस लड़की को डबडबाई आँखों से देख रही हैं। इसके बावजूद माई की आँखें निर्विकार हैं, मानों ऐसे दृश्यों की वह आदी हो चुकी हो- निर्विकार, उदास और सुन्न।"[1] यह उपन्यास इस बात को भी स्पष्टता के साथ दिखाता है कि यदि समाज को सही दिशा दिखाने के लिए शिक्षा की बागडोर जिसके हाथ में है वही भ्रष्ट हैं तो उसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है? प्रतिदिन कोई न कोई मेहमान मैडम के पास आता रहता है और उसकी सेवा सत्कार के लिए किसी न

[1] निष्कासन, पृष्ठ-11

किसी लड़की को बुलाया जाता था। लेखक लिखते हैं- "लेकिन हॉस्टल में तो यह आम रिवाज है। शाम को कोई-न-कोई लड़की मैम की सेवा-टहल या उनके मेहमानों के स्वागत-सत्कार हेतु बुलाई ही जाती है।"[1] ऐसे में एक दिन उपन्यास की पात्र लड़की को भी मेहमान के स्वागत-सत्कार या यह कहे कि मेहमान की यौन तृष्णा की पूर्ति के लिए मैम बुलाती है। स्थिति से अनजान अबोध सवर्णवादी मैम डॉ.महिष्मति सिंह द्वारा रचे गए षड़यंत्र में फँस जाती है और यहीं से उसके संघर्ष की कथा शुरू हो जाती है। मैम यानी डॉ. महिष्मति सिंह उस लड़की के साथ दुर्व्यवहार करने की कोशिश करती है। लेकिन लड़की के प्रतिरोध करने पर इस सवर्णवादी मैम के अहम को चोट पहुँचती है जिसके कारण मैम उसे उस छात्रावास से निष्कासित करवा देती हैं। लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से यह दिखाने का प्रयास किया है कि छात्रावास से लड़की का निष्कासन अनायास नहीं हुआ, बल्कि यह सवर्ण समाज का सोचा समझा एक षड़यंत्र है जो दलितों को प्रगति करने से रोकता है। लड़की स्वयं इस दर्द को बयान करती हुई अपनी बड़ी बहन से कहती हैं- "मैम ने उसके साथ बद्सलूकी की कोशिश की, जैसा की यहाँ बहुत सारी संवासिनियों के साथ करती हैं और वे मान भी जाती हैं, जैसा कि तुम्हें पता हो...मैं अपने को दिलासा देती गयी कि ऐसा कुछ नहीं होगा। मैं लगभग घेर ली गयी, चाहे कपड़े चेन्ज करने हों या कुछ और। हम-तुम इस बात का कितना मज़ाक बनाते थे लेकिन अब पता चला कि वे बातें सिर्फ़ अफ़वाहें नहीं थी। क्योंकि हम लोग अधिकांश लड़कियों द्वारा नीच समझे जाते हैं, इसलिए बातें हम तक सिर्फ़ उड़ती हुई पहुँचती थीं। लेकिन आज उन्होंने मुझे फँसाना चाहा। मेरे इनकार करने पर उन्होंने थप्पड़ मारा। तो क्या करूँ दीदी, मैंने गलती से उनका गट्टा पकड़ लिया और मेरे मुँह से निकल गया-'बस।' फिर मेरा जो हाल हुआ...मुझे बहुत डर लग रहा है दीदी! मुझे कमरे पर लौटने में डर लग रहा है।"[2] लड़की का यह कथन सवर्णवादी समाज के उस क्रूर मानसिकता के यथार्थ को दर्शाता है जो आज भी अपनी श्रेष्ठता की ग्रंथि को छोड़ नहीं पाया है। विदित हो कि यह केवल उस दलित लड़की के दर्द का आख्यान नहीं

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 42

[2] वही, पृष्ठ- 52

है बल्कि ऐसे कितने ही छात्र-छात्रा इस सवर्णवादी मानसिकता के शिकार होते रहते हैं, यह उपन्यास उनकी भी पीड़ा का एक जीवंत प्रमाण है।

गीता सिंह अपने एक लेख में लिखती हैं कि- "यह मानसिकता आज भी समाज की कड़वी सच्चाई है। जिसे हम कदम-कदम पर महसूस करते हैं, भोगते हैं तथा जीते हैं। जहाँ ज्ञानरूपी समता का दीया जलना चाहिए वहाँ असमानता और जाति-पांति का जहर भरा जा रहा है। हमारी शिक्षण व्यवस्था विषमता की पोषक है।"[1] यह उपन्यास विषमता की पोषक ऐसे ही एक शिक्षण संस्था के खोखलोपन का उद्घाटन करता है। दलित लड़की की यह गाथा शिक्षण संस्थानों में जातिगत भेदभाव को स्पष्टता के साथ उजागर करता है। वस्तुतः लेखक ने इस उपन्यास में वर्णित उस शिक्षण संस्थान के माध्यम से समूचे देश के शिक्षण संस्थानों को प्रश्नों के घेरे में लाकर खड़ा कर दिया है। लेखक ने स्पष्ट दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार उस दलित छात्रा के निष्कासन के लिए सभी सवर्ण इकट्ठा हो जाते हैं। लड़की की दुर्गति इसलिए होती है कि उसने सवर्णवादी मैम के कुकृत्यों के विरूद्ध आवाज उठाई और उनकी बातों को नहीं माना। उसका यह विरोध सवर्ण समाज सहन न कर सका। अतः संवेदनहीन सवर्ण शिक्षक मिलकर उसके निष्कासन के लिए तत्पर हो उठे। लड़की की बड़ी बहन का यह कथन सवर्ण समाज पर एक करारा प्रहार है कि- "यानी मेरी बहन हाँफ़ती हुई झूठा आरोप लगाने आयी थी? उसकी दुर्गति इसलिए होनी है कि उसने दूसरा थप्पड़ पड़ने से रोक लिया? या इसलिए कि वह जाल में नहीं फँसी? इसलिए पूछताछ होगी? चुप रहो नहीं तो अफ़वाह आग की तरह फैलेगी और फिर जिसकी नज़र नहीं पड़नी, उसकी भी पड़ेगी? तो ये इज्ज़त के चोंचले तुम लोगों के लिए होंगे मनोज! हमारी ऐसे ही कौन-सी इज्ज़त है जो उतर जायेगी? और तुम्हारे समाज में इज्ज़त उतर कर भी बची रहती है। अफ़वाहें हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती। मुझे पिछले पाँच वर्षों से यही लगता रहा कि यह हॉस्टल नहीं, चकलाघर है। यूनिवर्सिटी 'सदाचारी' कमीनों का कबाड़खाना है।"[2] लेखक ने बड़ी बहन के इस कथन के माध्यम से

[1] अम्बेडकर वादी स्त्री चितंन, पृष्ठ- 219

[2] निष्कासन, पृष्ठ- 54

वर्तमान भारतीय शिक्षण संस्थानों की स्थिति के साथ-साथ सवर्ण समाज पर भी व्यंग्य किया है। लेखक ने इस यथार्थ को भी दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार जातिगत मानसिकता से ग्रस्त इन सदाचारी कमीनों ने शिक्षण संस्थानों को कबाड़खाना बना कर रखा दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दूधनाथ सिंह ने 'निष्कासन' उपन्यास के माध्यम से वर्तमान समय की शिक्षा व्यवस्था की विफलता का यथार्थ चित्रण किया है। विश्वविद्यालय परिसर में व्याप्त जातिवाद का भी इन्होंने अपने इस उपन्यास के माध्यम से विरोध किया है। हमारे देश में दलित की शिक्षा और उसमें भी दलित स्त्रियों की शिक्षा प्रमुख समस्या रही है। संविधान द्वारा तो इन्हें शिक्षा का अधिकार प्राप्त है लेकिन क्या सही मायने में इनको मुकम्मल शिक्षा मिल पाती है? यह प्रश्न आज भी ज्यों का त्यों बना हुआ है क्योंकि बहुत से शिक्षण संस्थानों में आज भी कुछ सवर्ण शिक्षकों की मानसिकता उसी प्रकार की है। आज भी यह पुरुषवादी सवर्ण समाज स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखने के लिए तमाम हथकंडे अपनाता है। इस संबंध में प्रोफेसर प्रोमिला कपूर लिखती हैं कि- "स्त्री सशक्तिकरण की राह में सबसे बड़ा रोड़ा महिलाओं के बीच में शिक्षा और जागरूकता की कमी ही है। आज अगर औरतें समाज और राजनीति में सबसे पिछली पायदान पर खड़ी दिखायी देती है तो इसका प्रमुख कारण है स्त्रियों के बीच शिक्षा की कमी। आज समूचे देश में बालिकाओं के लिए मुफ्त शिक्षा का प्रावधान है लेकिन फिर भी बहुत सी बालिकाएं, स्कूल के दरवाजे तक नहीं पहुँच पाती है। जो बालिकाएं किसी तरह स्कूल पहुंच भी जाती हैं वे आगे अपनी पढ़ाई जारी नहीं रख पाती हैं। कन्याओं का बेहद मामूली सा प्रतिशत ही कॉलेजों का मुंह देख पाता है, तो इसका कारण कहीं न कहीं हमारी सामाजिक संरचना में छिपा है।"[1]

[1] स्त्री शिक्षा एक मूल्यांकन, फ्लैप से

2.2. राजनीति पर व्यंग्य

प्रेमचंद 'साहित्य का उद्देश्य' निबंध में लिखते हैं कि- "साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है- उसका दर्जा इतना न गिराइये। वह (साहित्य) देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई, चलने वाली सच्चाई है।"[1] अतः राजनीति भी साहित्य की तरह समाज का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। समाज में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से राजनीति से प्रभावित और संचालित होता रहता है। अतः ऐसे में समाज के साहित्यकारों का यह नैतिक दायित्व बनता है कि देश की राजनीति को साहित्य के जरिए आम जनमानस तक पहुँचाने का कार्य करें। राजनीति ही हमारे देश की प्रगति तय करती है। उसके द्वारा लिए गए प्रत्येक निर्णय आम जनमानस के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन ला सकता है। इस संबंध में जितेन्द्र यादव अपने संपादकीय में लिखते हैं- "राजनीति सिर्फ एक मात्र राजनीति नहीं होती है बल्कि एक सत्ता और शासन भी होती है, जिनके द्वारा लिए गए छोटे से छोटे निर्णय भी नागरिक को प्रभावित करते है। उनके अविवेकपूर्ण निर्णय समाज में विनाश की इबारत लिख सकते हैं। इसीलिए सत्ता के प्रतिरोध में साहित्यकार अपनी कलम की ताकत दिखाता रहता है।"[2]

साहित्य, समाज और राजनीति का आपस में परस्पर गहरा संबंध होता है। साहित्य राजनीति से जुड़ कर अपने स्तर को घटाता नहीं है बल्कि अपने स्तर में वृद्धि करते हुए जनता के हितों की वकालत करता है। राजनीति समाज के लिए अपने कार्यक्रमों, नीतियों को प्रस्तुत करती है, तो साहित्य अपने समय के समाज में घटने वाली विसंगतियों, जनता के सुख-दुख, हर्ष-उल्लास आदि का जीवंत चित्र प्रस्तुत करता है। बकौल मैनेजर पाण्डेय- "साहित्य का आस्तित्व समाज से अलग नहीं होता, इसलिए साहित्य का विकास समाज के विकास से कटा हुआ नहीं हो सकता। साहित्य सामाजिक रचना है,

[1] कुछ विचार, पृष्ठ-16

[2] अपनी माटी, सम्पादकीय

साहित्यकार की रचनाशील चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व से निर्मित होती है।"[1] समाज में घटने वाली प्रत्येक घटना का प्रभाव रचनाकार के मन-मस्तिष्क पर पड़ता है। रचनाकार जिस समाज में रहता है, उस समाज की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक गतिविधियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। अतः रचनाकार अपने समय के समाज की विसंगतियों, परिवेश को अत्यंत ही सच्चाई के साथ अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। साहित्यकार अपने समाज की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। पाब्लो नेरूदा ने लिखा है कि- "कवि एक कारीगर होता है जिसका एक कार्य है, लेकिन यह कार्य अन्य कार्यों से अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता सिवाय तब जब वह सामाजिक प्रतिक्रिया की शक्तियों का सामना करने की चुनौती स्वीकारता है और यह भी एक जोखिम भरा काम हैं क्योंकि कवि सच्चाई के रखवाले की हैसियत से बोलता है।"[2] राजनीति और साहित्य के संबंध पर टिप्पणी करते हुए सम्पादक जितेन्द्र यादव लिखते हैं- "जिस प्रकार राजनीति एक शासन पद्धति है, ठीक उसी प्रकार साहित्य एक जीवन पद्धति। जिस प्रकार राजनीति का उद्देश्य अच्छी शासन पद्धति द्वारा खुशहाल जीवन देना होता है, ठीक उसी प्रकार साहित्य की चिंता भी मनुष्य मात्र में सुखमय जीवन की इच्छा व बेहतर समाज बनाने का प्रयास होती है।"[3]

मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि- "रचनाकार भले ही समाज का शासक न हो लेकिन वह कई बार शासकों के लिए खतरा जरूर बन जाता है।...लेखक पाठकों की चेतना व्यापक बनाता है, उनकी संवेदनशीलता परिष्कृत करता है और उन्हें समाज तथा जीवन के बारे में नई दृष्टि देता है। इसी प्रक्रिया में वह कई बार सत्ता और व्यवस्था से बेमेल होने के कारण खतरनाक मान लिया जाता है।"[4] यदि हम अपने इतिहास को देखें तो हमें यह ज्ञात होता है कि साहित्यकारों का अपने समय की राजनीति से बहुत ही गहरा संबंध रहा है। आधुनिक काल से पूर्व हिंदी साहित्य की अधिकतर रचनाएं दरबारों में लिखी

[1] साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृष्ठ- vii

[2] वही, पृष्ठ-86

[3] अपनी माटी, सम्पादकीय

[4] साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि, पृष्ठ- 35

गयी। तत्कालीन समय के साहित्यकारों ने भी न केवल अपने समय के समाज से परिचित करवाया है बल्कि तत्कालीन समाज की राजनीति को भी दिखाया है। साहित्यकारों की अपने समय की राजनीति के प्रति प्रतिबद्धता की एक खास परंपरा हमारे देश में दृष्टिगोचर होती है। चाहे वह चन्दरवरदाई हो, भूषण हो, बिहारी हो, अमीर खुसरो हो- सभी ने अपने समय के समाज की राजनीति को देखा, समझा, अनुभूत किया और उसे ही साहित्य में लिपिबद्ध किया। यद्यपि इस काल के कवि राजाश्रयों में रहने के कारण राजा के प्रति प्रतिबद्ध थे तथापि उनकी राजनीति में भी रूचि रहती थी। लेकिन आधुनिक काल में उनकी यह प्रतिबद्धता आक्रोश में बदल जाती है। यद्यपि कुछ चाटुकार साहित्यकार सत्ता की दलाली करत् हुए उनके प्रति उन्मुख दिख जाते हैं, लेकिन वहीं दूसरी ओर स्वतंत्रता के पश्चात देश की राजनीति में आमूलचूल परिवर्तन लक्षित किया गया। साहित्यकारों की प्रतिबद्धता समाज के लोगों की पीड़ा, उनकी तकलीफों के प्रति हुई। फलतः साहित्यकारों ने खुलकर देश के राजनेताओं तथा समाज में अपना पैर पसार रही अवसरवादी राजनीति का विरोध करना शुरू कर दिया। आधुनिक हिंदी साहित्य जगत इस मामले में बहुत ही समृद्ध रहा है। ध्यातव्य है कि इस समय के साहित्यकारों की प्रतिबद्धता राजनेताओं के प्रति न होकर आम जनमानस के प्रति दिखती हैं।

समय के अनुरूप समाज में बदलाव होता रहता है और समाज के अनुरूप राजनीति में भी परिवर्तन लाज़मी है। साहित्यकार इस बदलाव को साहित्य में अभिव्यक्त करता रहता है। साहित्यकार अपने समाज का एक जागरूक व्यक्ति होता है। हमारे वर्तमान समय के राजनीति का यह तकाजा है कि देश की राजनीतिक हलचलों को देखते हुए उसी प्रकार का साहित्य सृजित किया जाए। इसलिए यह आवश्यक है कि साहित्यकार राजनीति से जुड़े, उसे समझे और अपने देश के भविष्य के लिए समाज को मार्ग दिखाए। विचारणीय हो कि स्वतंत्रता संग्राम में साहित्यकारों और राजनेताओं ने किस प्रकार एक-दूसरे के सहयोग से भारतीय जनमानस में आजादी की भावना को जागृत किया था। वहीं दूसरी ओर आजादी के पश्चात लोगों की बदहाली के जिम्मेदार राजनेताओं को भी साहित्यकारों ने अपनी लेखनी

के माध्यम से विरोध किया है। आजादी के बाद देश में राजनीति का एक अलग ही विद्रूप चेहरा देखने को मिलता है। साहित्यकारों ने इस अवसरवादी राजनीति का स्पष्ट शब्दों में विरोध किया हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय समाज में सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्था राज्य रही है। राजनीति के निर्णयों ने ही भारतीय समाज को सबसे अधिक प्रभावित किया है। हमारे जीवन में राजनीति का काफी गहरा प्रभाव पड़ता है। हमारे सामाजिक, वैचारिक परिवर्तन में राजनीति की मुख्य भूमिका होती है और यह सामाजिक और वैचारिक परिवर्तन साहित्य के माध्यम से ही संभव हो सकता है। आज जिस प्रकार देश में दिन प्रतिदिन राजनीति का प्रभुत्व बढ़ती जा रही है तो साहित्य को भी उसे साथ लेकर चलने की अनिवार्यता बढ़ती जा रही है। राजनीति देश को सुरक्षा और न्याय का विश्वास देती है, जीवन- मूल्यों के निर्वाह में जनता की सहायता करती है। किंतु स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीति इसके विपरीत भ्रष्टाचार ओर अन्याय को प्रश्रय देती है। वर्तमान समय में राजनीति का माहौल इतना भ्रष्ट और नीति शून्य हो चुका है कि राजनीति के प्रति आम जनता की आस्था और विश्वास समाप्त हो गया है। जनता प्रजातंत्र को समझ भी नहीं पाई और इससे पहले ही उसका इस शासन प्रणाली से विश्वास उठने लगा है। आजादी के बाद आम जनता मौकापरस्त राजनेताओं द्वारा दिखाए गए स्वप्नों और उनके द्वारा दिए गए काल्पनिक आश्वासनों से थक चुका है। अब राजनेताओं द्वारा दिखाए गये काल्पनिक सपनों को हमारा वर्तमान समाज एक मजाक के तौर पर लेता है।

वर्तमान समय की राजनीति ने हमारे समाज को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। समाज में घटने वाली प्रत्येक घटना साहित्य में जगह पाती है। राजनीति हमारे समाज और जीवन का एक अभिन्न हिस्सा बन चुकी है तथा उसके विकास-विनाश में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। साहित्यकार जिस समाज में जन्म लेता है वहाँ की राजनीतिक विचारधारा से अपने को प्रभावित किए बगैर नहीं रह सकता। दूधनाथ सिंह जीवनपर्यंत मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित लेखक रहे हैं। वे जनवादी लेखक संघ से बहुत गहरे रूप से जुड़े हुए थे। अपने समय की राजनीति से वे अच्छी तरह से परिचित थे। उनकी रचनाएं उनकी जन पक्षधरता का गवाह हैं। अपने समय में दलितों के साथ हो रहे जातिगत राजनीति को भी देख

रहे थे कि किस प्रकार यह सवर्णवादी समाज दलित समुदाय के साथ जातिगत भेदभाव की राजनीति कर रही हैं? सन् 2002 में प्रकाशित 'निष्कासन' स्वातंत्र्योत्तर भारत में सवर्णवादी समाज की ओछी मानसिकता को पर्दाफाश करने वाली एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण उपन्यास है। जब यह सन् 2001 में 'कथादेश' पत्रिका के दलित कहानी विशेषांक में अखिलश की कहानी 'ग्रहण' के साथ प्रकाशित हुई थी तो हिंदी साहित्य के दलित लेखन में दलित बनाम गैर दलित लेखन की बहस अपने चरम पर थी जो आज भी उसी रूप में एक मुद्दा बना हुआ है। विचारणीय है कि दूधनाथ सिंह जी भी दलित नहीं थे लेकिन दलितों के पक्षधर जरूर थे, दलित समुदाय के मुद्दे को अपने साहित्य में स्थान जरूर देते थे। विजय अग्रवाल साहित्य विकल्प के संपादकीय में लिखते हैं- "अपने मूल स्वभाव से उपेक्षित और दलितों के पक्षधर होने के कारण दूधनाथ सिंह प्रगतिशील विचारधारा के लोगों के संपर्क में आए और लगभग उनका सारा का सारा साहित्य जनता के पक्ष में समर्पित रहा।"[1]

यह उपन्यास भारतीय विश्वविद्यालय परिसरों की नारकीय स्थितियों को बयान करने वाला एक जीवंत दस्तावेज है। यह उपन्यास एक दलित लड़की के संघर्ष के माध्यम से भारतीय अवसरवादी राजनीति का पर्दाफाश करता है। यह हलद्वानी में रहने वाली एक ऐसे दलित लड़की की कथा है जो पढ़ने में अव्वल है, आर्थिक रूप से बेहद ही कमजोर पर उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए तथाकथित देश बड़े विश्वविद्यालय में पढ़ने आती है। उसकी बड़ी बहन इसी विश्वविद्यालय में पढ़ रही है और गोपेश्वर में तदर्थ नियुक्ति हो जाती है। बड़ी बहन ही लड़की की सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा का सहारा है क्योंकि उसके पिता दमे का मरीज है और ठेले पर सब्जी बेचता है। बड़ी बहन की नियुक्ति हो जाने पर लड़की को जहाँ एक ओर आर्थिक तंगी कम होती है तो दूसरी ओर समाज के भेड़िए उसे परेशान करना शुरू कर देते है। एक दिन कक्षा से आने के बाद अपने तन से बेखबर सोयी लड़की के शरीर पर राउण्ड पर निकली छात्रावास की अधीक्षिका मैडम यानी डॉ. महिष्मति सिंह की नज़र पड़ जाती है जिसने पूरे हॉस्टल को चकलाघर में बदल दिया है। प्रतिदिन कोई न कोई मैडम के पास आता ही रहता है और

[1] साहित्य विकल्प, पृष्ठ-6

उसकी सेवा सत्कार के लिए किसी न किसी लड़की को बुलाया ही जाता है। लेखक लिखते हैं- "लेकिन हॉस्टल में तो यह आम रिवाज है। शाम को कोई-न-कोई लड़की मैम की सेवा-टहल या उनके मेहमानों के स्वागत-सत्कार हेतु बुलाई ही जाती है।"[1] ऐसे में एक दिन लड़की को भी मेहमान के सेवा सत्कार के लिए बुलाया जाता है जहाँ स्थिति से अबोध लड़की के साथ यौन शोषण करने की कोशिश की जाती है। लड़की मैडम के आदेश को मानने से इनकार कर देती है जिसके बाद उसके निष्कासन के लिए यह सवर्णवादी समाज एक जुट हो जाता है। यही हादसा उसके जीवन का टर्निंग प्वाइंट था। यहीं से उसकी संघर्ष की गाथा शुरू हो जाती है। लेखक ने उसकी इसी संघर्ष के माध्यम से स्वतंत्र भारत की तमाम राजनीतिक पार्टियों की कलई खोल दी है। लेखक ने बड़े ही सूक्ष्म तरीके से इस सवर्णवादी समाज पर कड़ा प्रहार किया है जिसे प्रतिरोध की भाषा सुनना पसंद नहीं है और अपनी बात को सही साबित करने के लिए किसी भी हद तक जा सकती है। मसलन उपन्यास की एक पात्र जो यद्यपि सवर्णवादी समाज का हिस्सा है, हॉस्टल की जनरल सेक्रेटरी मैत्रेयी मिश्रा मैडम की इस धंधे की पोल खोल देती है। वह कहती है- "तुमसे कहा था मैंने, अपना धन्धा जरा आस्ते-आस्ते। धन्धे की वजह से हुआ यह। आसान समझे बैठीं थीं उस लड़की को? खटकिन है तो साग-भाजी की तरह बिक जायेगी? नहीं बिकी तो बधोगी।"[2] लड़की के मना करने पर मैम उसे बुरी तरह मारती है और अपने अहमबोध को या यह कहे कि श्रेष्ठताग्रंथि को शांत करने के लिए उस लड़की को उस छात्रावास से निष्कासित करने की आदेश अपने पति शार्दूल विक्रम सिंह को देती है। शार्दूलविक्रम सिंह कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य है और वही इस लड़की के निष्कासन तथा छात्रावास को व्यभिचार का अड्डा बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वह लड़की से छात्रावास में रहने के लिए दस हजार रुपये की मांग करता है। लेखक ने मनोज पांडे, जो स्वयं इस पार्टी से जुड़ा हुआ है, के माध्यम से कहलवाया है- "लेकिन यह तो घूस है, सरासर बेईमानी है, और यह काम एक ऐसे आदमी की बीवी कर रही है जो अपने को कॉमरेड कहता है। और कॉमरेड

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 42
[2] वही, पृष्ठ-79

कहता ही नहीं, कॉमरेड है। मैं खुद उनसे लेवी वसूलने जाता हूँ और वे नियमतः लेवी देते हैं। मैं उनके पास जाता हूँ। मैं उनसे पूछता हूँ कि यह कैसी धोखाधड़ी है? वे हमारी यूनिवर्सिटी सेल के प्रभारी हैं तो क्या, वे खुद ही धाँधली में शामिल होंगे और हमें नैतिकता सिखायेंगे?"[1] पढ़ने की लालसा होने के कारण वह लड़की अपनी निष्कासन को रद्द करवाने के लिए देश के हर एक दरवाजे को खटखटाती है लेकिन यह सवर्णवादी समाज में कोई भी राजनीतिक पार्टी उसे न्याय दिलाने के लिए आगे नहीं आता है।

दूधनाथ सिंह अनुभव कर रहे थे कि किस प्रकार भारतीय राजनीति जातिवाद के चक्कर में फंसा हुआ है। वर्तमान समय के चुनावों में ऐसा देखा जाता है कि व्यक्ति को योग्यता या राजनैतिक विचारधारा के आधार पर वोट नहीं मिलते बल्कि वोट तो जाति के आधार पर मिलते हैं। चुनाव जाति के आधार पर लड़े जाते है। फणीश्वरनाथ रेणु ने 'परतीः परिकथा' में बिल्कुल लिखते हैं कि- "पिछले आठ-दस वर्षों से जातिवाद ने काफी जोर पकड़ा है। राजनीतिक पार्टियाँ भी जातिवाद की सहायता से संगठन करना जायज समझती हैं। राजनीति के दंगल में सब कुछ माफ है।"[2] लेखक ने यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि वर्तमान समाज में किस प्रकार जातिवादी राजनीति फल-फूल रही है। विडम्बना की बात यह है कि इनमें से जो नेता या यह कहें कि जनता जिन्हें संसद तक पहुँचा देती है, वे भी उस पद को प्राप्त करने के पश्चात अपने समुदाय की पीड़ा को भूल जाते हैं और अपने स्वार्थ सिद्ध करने में ही अपने समुदाय का विकास समझते हैं। मसलन इस उपन्यास में नन्हें लाल खटिक जैसा राजनेता है, जो अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिए अपने समुदाय के लोगों की पीड़ा को अनदेखा कर देता है। लड़की बड़ी ही उम्मीद के साथ अपनी फरियाद लेकर इस अवसरवादी राजनेता नन्हें लाल के पास जाती है लेकिन यह उसकी मदद करने के बजाय हताश कर देता है। मसलन उपन्यास में हम देख सकते हैं कि नन्हें लाल खटिक लड़की से कहता है कि- "तो तुम चाहती हो कि हॉस्टल में जो फल और सब्जी का ठेका है मेरा,

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 16

[2] परतीःपरिकथा, पृष्ठ- 27

उसे एक छोकरी के लिए छोड़ दूँ मैं? मेरा बचा-खुचा धन्धा-पानी बन्द हो जाय...क्यों? और किसलिए? मेरा क्या फायदा होगा? आदमी कोई चीज़ तब गँवाता है, जब उससे बड़ी चीज़ हासिल हो। और इनकी पार्टी में रह कर मैं जातिवादी राजनीति करूँ? कर सकता हूँ क्या? नन्हें लाल खटिक नीची नज़रें किये अखरोट के बीजें निकाल रहा था।"[1] नन्हें लाल के इस कथन के माध्यम से लेखक ने समाज के इस यथार्थ को दिखाने का प्रयास किया है।

आजादी के करीब सात दशक बाद भी भारतीय राजनीति में दलित समुदाय की भागीदारी विचारणीय है। स्वतंत्रता के बाद से ही देश की सभी राजनीतिक पार्टियों द्वारा दलितों को वोट बैंक के रूप में उपयोग करने की एक रवायत रही है। दलित नेताओं को उनकी योग्यता और क्षमता के आधार पर कभी महत्व नहीं दिया जाता है। उन्हें अपनी जाति के मतदाताओं के ही वोट मिलते हैं, इसलिए सभी राजनीतिक पार्टियाँ उन्हें उस समुदाय के प्रभावशाली व्यक्ति को अपनी-अपनी पार्टी में शो पीस के रूप में रखे रहता है। दलित नेता भी उनकी चापलूसी कर अपना हित साधने में ही दलितोद्धार समझते हैं। मसलन इस उपन्यास में भी लेखक ने सवर्णवादी मानसिकता से संचालित राजनीति का यथार्थ वर्णन करते हुए कहते हैं- "इस उर्वर प्रदेश में आपको इसलिए भेजा गया है कि हमारे वोट बैंक में जमा पूंजी तेजी से बढ़े। इसलिए कि आप आए तो दलितों में यह संदेश जाएगा कि हम खाली सवर्णों के नेता नहीं हैं। और कहाँ है? है क्या? आपका आना इसलिए हुआ कि देखो, हमारे विचारों में, हमारी राजनीति में कितनी तबदीली आई है! हमारी नजर में देश का हर आदमी बराबर है। सब को सम पर लाना ही तो साम्राज्य है। तो इस पहल कदमी में हमारा साथ दीजिए आप। यह नहीं कि आते ही एक नया शिगूफा खड़ा कर दो, एक दलित एजेंडा हवा में उछाल दो।"[2] लेखक ने वर्तमान समय की राजनीति का यथार्थ वर्णन किया है। वर्तमान समय में वोट बैंक के रूप में एक खास समुदाय के लोगों को ही टिकट दिया जाता है। आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक और राजनीतिक सभी स्तरों पर पिछड़े दलित समुदायों को भारत

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 86

[2] वही, पृष्ठ- 70

की सभी राजनीतिक पार्टियाँ हमेशा से गुमराह कर अपना हित साधने की कोशिश करती रही हैं। दलितों में आपसी एकजुटता न होना भी उनके पिछड़ेपन का सबसे बड़ा कारण है। आज भी उसके समुदाय के अधिकतर लोगों में एकता देखने को नहीं मिलती है जो उनके उत्पीड़न, शोषण, अशिक्षित होने का सबसे बड़ा कारण है। आए दिन आज भी दलितों पर हो रहे अत्याचार की खबर अख़बारों में देखने को मिल जाती है। मीडिया कठपुतली की तरह चुप रह कर अपनी भूमिका का निर्वाह कर रहा है। 'आखिरी कलाम' में भी लेखक लिखते हैं- "पहले जो कॉमरेड्स थे, उनमें बहुत सारे अब अपनी जातियों के मूर्द्धन्य नेता हैं। और फिर जाति के नाम पर दुनिया भर के लुच्चे-लफंगे, विचारहीन, अवसरवादी, विधानसभाओं और संसद में आ बैठे हैं। और जनता इसी से खुश है कि चलो, भला आदमी न हुआ तो क्या अपनी जाति का तो है। दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातंत्र जातिवादी सरगनाओं का अखाड़ा है और चाहे सर्वहारा हों या उच्चकोटि के वैज्ञानिक- सब उनके ज़रख़रीद गुलाम हैं। मूर्खता की एक उजड्ड दृश्यावली है, जिसे संसदीय बहस कहते हैं और देश-विदेश के विद्वानों और व्याख्याकारों को हमारी इस संसदधर्मिता पर गर्व है।"[1]

दूधनाथ सिंह अपनी रचनाओं में स्पष्ट दिखाते हैं कि आने वाले समय में सत्ता उसी के पास होगी जिसके पास बाहुबल और अर्थ होगा। राजनीति में दिन पर दिन गुंडों का दबदबा बढ़ता ही गया है। आज राजनीति में वही लोग भरे पड़े हैं जिनके पास पैसे हैं या जिनके पास बाहुबल है। 'राग दरबारी' के रंगनाथ ने प्रजातंत्र के बारे में एक नई बात सुन रखी है कि- "चूंकि चुनाव लड़ने वाले प्राय: घटिया अदमी होते हैं, इसलिए एक नए घटिया आदमी द्वारा पुराने घटिया आदमी को, जिसके घटियापन को लोगों ने पहले से ही समझबूझ लिया है, उखाड़ना न चाहिए।"[2] अपनी कहानी 'नाम में क्या रखा है' में भारतीय प्रजातंत्र का यथार्थ दृश्य प्रस्तुत करते हुए दूधनाथ सिंह लिखते हैं- "तब से हलाकू ने कितने क़त्ल किए-करवाए और हर बार मूँछे ऐंठता हुआ धन्ना था वह। कौन है जो सेवा से अलक्सन लड़ता है? कौन है? बस,

[1] आखिरी कलाम, पृष्ठ- 194
[2] राग दरबारी, पृष्ठ-139

पैसा चाहिए और धमक और खूँखार फ़ालोअर्स। गाड़ियाँ, हेलीकाप्टर, जेट। इसी फूलपुर से आख़िरकार वह सातवे एटेम्पट में विजयी हुआ कि नहीं? बच्चों के कोर्स में गणित का यह नया फ़ार्मूला ज़रूर रखा जाना चाहिए- भारतीय प्रजातंत्र का पतन = जवाहरलाल नेहरू से हलाकू तक। बहुत ज़्यादा बोलने की ज़रूरत क्या है! फिर भी देख लीजिए, हर जगह हलाकुओं का ही शासन है। गज़ब है कि हलाकू एक जिन्न का नाम है, भारतीय प्रजातंत्र में , जो हर बार बोतल फोड़कर निकल आता है और चिंघाड़ता है। हलाकू अब अजनबी नहीं। सब उसे जानते-पहचानते और दुआ-सलाम को आगे के बढ़ते हैं।"[1] इस उपन्यास में भी लेखक ने वर्तमान समय की राजनीति में किस प्रकार व्यक्ति सांसद के पद तक पहुँच जाता है उल्लेख किया है- "तभी एक रात उन्हें सोते-सोते इल्हाम हुआ कि इस सीधी लाइन से तो वे भी अधिक से अधिक मुच्छैड़ बन सकते हैं। क्या फ़ायदा? इतनी तपस्या करो, झूलो और अन्त में पाओ कि घुटनों में गठिया है, जाँघों में गोश्त नहीं और हाफ़-पैंट पहने हाथों पर छाती ताने हैं। नहीं, बिल्कुल नहीं। तब उन्होंने अपने लोगों के साथ रणनीति तय की और नगर के सबसे बड़े गुंडे को उसी के रेस्त्राँ में घेर कर दिन-दहाड़े गोलियों से भून दिया। राजनीति तय हो गयी। चाहे दलित हो, मुसहर हो, डोम हो, कायथ-कुर्मी हों, बनिय-बक्काल हों, ठाकुर-बाँभन हों-हिन्दू सब हो गये। भैया जी रेकार्ड मतों से विजयी हुए। और अब, जब संसद में उनके बड़े-बड़े वक्ताओं की बोलती बन्द हो जाती है, तब यह उन्हीं का बूता है कि अपनी हलर-हलर झूलती उस लर में भरे हुए जद्द-बद्द शब्दों से प्रजातंत्र की ऐसी-तैसी करते हुए सबको चुप करा सकते हैं।"[2] 'आखिरी कलाम' उपन्यास में भी वे इस राजनीति पर तंज कसते हुए वे कहते हैं कि- "राजनीति अब पंडितों का नहीं, पंडों का खेल है। पुजापा है, पुजापा। चढ़ावा है। टीका-फाना है। चेलाजी, तुम्हारी पंडिताई अब नहीं चलेगी।"[3] अन्यत्र एक जगह वे कहते हैं कि- "लोग बड़ी-

[1] जलमुर्ग़ियों का शिकार, पृष्ठ-120

[2] निष्कासन, पृष्ठ- 124

[3] आखिरी कलाम, पृष्ठ-126

बड़ी बातों पर नहीं रीझते चेलाजी, करम-काण्ड से रीझते हैं। अपने ज्ञान का कमंडल उठाओ और जंगल की राह लो। अब राजनीति तुम्हारे बस की नहीं। अब राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय गुंडो-लम्पटों का खेल है।"[1]

दूधनाथ सिंह कम्युनिस्ट पार्टी के एक सक्रिय कार्ड होल्डर थे। यद्यपि मार्क्सवाद से उनका गहरा लगाव था, तथापि अपनी रचनाओं में वे वैचारिक रूप से एकदम तटस्थ दिखते हैं। इस स्वतंत्र भारत में वामदल के नेताओं की वैचारिकी क्या हो गयी थी, उससे बहुत ही अच्छी तरह से परिचित थे तथा उसकी अवसरवादी राजनीति का स्पष्ट और यथार्थ चित्रण करते हैं। अपनी रचनाओं में, इन्होंने वामदल के नेताओं के सिद्धांत और चरित्र की विद्रूप एवं त्रासद स्थिति को चित्रित किया है। अपने समय की राजनीति को भी वह देख रहे थे, उसे अनुभूत कर रहे थे जिसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति 'निष्कासन' उपन्यास में देखा जा सकता है। इस उपन्यास के माध्यम से वे भारतीय समाज की अवसरवादी राजनीति पर कड़ा प्रहार करते हैं। जब लड़की वामपंथी मनोज पांडेय के साथ मदद के लिए कम्युनिस्ट पार्टी के दफ्तर जाती है, तो वहाँ के परिवेश को देखकर दूधनाथ सिंह लड़की के माध्यम से सटीक व्यंग्य करते हैं। लड़की उस लाल खँडहर से बाहर आते हुए कहती है- "जो अपने कार्यालय का जाला नहीं साफ़ कर सकते, वे देश का जाला क्या साफ़ करेंगे!"[2] स्पष्ट है कि वर्तमान समय में कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं पर यह करारा व्यंग्य है। लेखक ने यह स्पष्ट दिखाया है कि स्वतंत्र भारतीय राजनीति में इस पार्टी ने अपने सिद्धांतों को ताक पर रख दिया है। स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व की बात करने वाले इस पार्टी के नेताओं ने भारत की राजनीति में अपने सिद्धांतों को दरकिनार कर दिया है तभी तो मदद मांगने गयी लड़की को कम्युनिस्ट पार्टी का सचिव कहता है- "और वक्त ऐसा है जिसमें पार्टी बनाम दलित के लफड़े में हमें नहीं फँसना चाहिए। हम दलितों के पक्षधर हैं, लेकिन पार्टी बनाम दलित में हम पार्टी का हित पहले देखेंगे। और मामला सार्वजनिक हुआ तो इसमें पार्टी का अहित है।...लड़की ने इसे अपनी इज्ज़त और ईगो का सवाल बना लिया है। पार्टी-पॉलिसी से इसका कुछ लेना-देना नहीं।"[3] राजनीतिज्ञ कांशीराम ने पश्चिम

[1] आखिरी कलाम, पृष्ठ- 127

[2] निष्कासन, पृष्ठ- 119

[3] वही, पृष्ठ-120

बंगाल के कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीति पर टिप्पणी करते हुए कहा है- "बसु सरकार अपने आप को कम्युनिस्ट कहलाती है। उनका दावा है कि कम्युनिस्टों में सभी लोग बराबर होते हैं। मगर जो विषमता पश्चिम बंगाल में नजर आती है, वह देश में अन्य राज्यों की तुलना में ज्यादा है। पश्चिम बंगाल में हमारा शूद्र समाज रहता है। हमारा चमार समाज रहता है। हमारा वाल्मीकि समाज रहता है। क्या हालात हैं उनकी! आज वह लोग गुलामी जैसी जिंदगी बसर कर रहे हैं। आज भी उन लोगों को निचले स्तर के काम दिए जाते हैं। पश्चिम बंगाल में सबसे ज्यादा छुआछूत है। फिर कहाँ गया तुम्हारा कम्युनिज़्म? कहाँ गया तुम्हारे मानवता का संघर्ष? सच बात तो यह है कि 'कम्युनिज्म' के नाम पर यहाँ भी एक ब्राह्मण ही सत्ताधारी है। और वह लाल रंग ओढ़कर मनुवाद चला रहा है।"[1]

इसके साथ स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान समय में दलितों के प्रति इस सवर्णवादी समाज की मानसिकता क्या है। लेखक ने कक्षा में शिक्षक और छात्र के संवादों के माध्यम से यह दिखाने का प्रयास किया है कि समाज में कोई भी राजनेता यदि ब्राह्मण है तो पहले ब्राह्मण है और शूद्र है तो पहले शूद्र है। उपन्यास में लेखक ने इन संवादों के माध्यम से दिखाने का साहसिक प्रयास किया है-

"सर, आप डि-क्लॉस हो सकते हैं, डि-कास्ट नहीं हो सकते इस समाज में। लड़का बोला।

हे...हे। लड़कों ने अनायास ताली बजायी।

और अगर हों तो? सर जी ने पूछा।

तो आप एक अवसरवादी ढ़ोंग फैलायेंगे। यहाँ जो बड़े-बड़े डि-क्लास मार्क्सवादी हैं, वो भी अगर ब्राह्मण हैं तो पहले ब्राह्मण हैं और अगर शूद्र है तो पहले शूद्र हैं। और सभी पार्टियों का यही हाल है।"[2]

दूधनाथ सिंह अपनी रचनाओं में बड़े ही निर्भीक दिखाई देते हैं। उन्होंने न केवल वामपंथ की राजनीति पर कटाक्ष किया है बल्कि संघ की राजनीति पर भी बड़ी ही निर्भीकता से कटाक्ष किया है। लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि संघ अपनी राजनीति में सवर्णवादी मानसिकता को प्रश्रय

---

[1] दलित राजनीति के मुद्दे, पृष्ठ- 129

[2] निष्कासन, पृष्ठ-28

देता है। अतः उपन्यास में मनोज पांडेय नाम का पात्र संघ की राजनीति से अच्छी तरह से परिचित है। उसे ज्ञात होता है कि किस प्रकार देश में जातिवादी राजनीति चल रही है और सत्ता में काबिज होने के बाद दलितों के मुद्दों पर संघ कितना अमल करता है। मनोज जानता है कि महामहिम दलित समुदाय से आते हैं फिर भी बात दलित और संघ के बीच फँसती है, तो वे संघ का साथ देने में ही अपना दलितोद्धार समझेंगे। चूंकि महामहिम दलित समुदाय से आते हैं तो लड़की को यह आशा होती है कि वे उसे न्याय दिलाने में मदद करेंगे। जिसके जवाब में मनोज उसे संघ की सवर्णवादी राजनीति से परिचय करवाते हुए कहता है कि- "महामहिम के उत्साह का भरोसा मत करो, क्योंकि कुल मिलाकर वे संघ के कॉडर से आते हैं और संघ अपनी बुनियाद कतई नहीं छोड़ेगा। यानी महामहिम दलित-एजेण्डे को अधिक से अधिक संघ और सत्ता के लिए भुना भर सकते हैं, लेकिन मामले का रूख़ अगर दलित बनाम सवर्ण पर आयेगा तो उनकी धोती ढ़ीली हो जायेगी। वे हमारे ज्ञापन को कूड़े की टोकड़ी में डाल देंगे।"[1]

दूधनाथ सिंह ने 'संघ' की राजनीति जिस विचारधारा से संचालित होती है, उस पर खुलकर बेबाकी से लिखा है। लेखक ने यह स्पष्ट दिखाने का प्रयास किया है कि 'संघ' हिन्दुत्व की बात करता है और ब्राह्मणवादी सामंतवादी विचारधारा का पोषक है। लेखक ने इस थोथी हिन्दुत्ववादी विचारधारा का अपने प्रायः रचनाओं में विरोध किया है। वर्तमान समय की राजनीति में सक्रिय होने के कारण ही वह संघ की विचारधारा पर टिप्पणी करते हुए यह बात लिख पाते हैं कि- "कटुए, क्रिश्चियन और कम्युनिस्ट, तीनों देशद्रोही हैं- अन्ततः यह उनका और उनकी पार्टी का खुला-छिपा राजनैतिक नारा है।"[2] वर्तमान समय की राजनीति में पनप रही अवसरवादिता पर महामहिम के माध्यम से लेखक कहते हैं- "राजनीति एक सीधी चोट होनी चाहिए, कोई छिपा एजेण्डा नहीं।"[3] लेकिन समाज में वास्तविकता कुछ और ही नज़र आती है। वर्तमान समय की राजनीति के स्वरूप पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि- "अरे भाई, पार्टी है, संगठन है, संगठन के ऊपर भी संगठन है। मान्यताएँ हैं, मान्यताओं के ऊपर भी

[1] निष्कासन, पृष्ठ-83
[2] वही, पृष्ठ- 124
[3] वही, पृष्ठ- 71

मान्यताएँ हैं- क्या आप नहीं जानते? एक रणनीति भी होती है। जो कथनी और करनी को एक करने को बात करते हैं वे क्या नहीं जानते कि कथनी और करनी के ऊपर भी एक कथनी और करनी है? कथनी और करनी एक कर दोगे तो राजनीति होगी? नहीं होगी। राजनीति में झाँसे और झूठ भी काम आते हैं- यह आपको कौन सिखायेगा? हम?"[1] यह कथन स्वतंत्रता के पश्चात की भारतीय राजनीति का यथार्थ दृश्य प्रस्तुत करता है। जहाँ राजनीति में कथनी और करनी में काफी अंत है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष स्वरूप हम देख सकते हैं कि लड़की के निष्कासन के माध्यम से दूधनाथ सिंह ने स्वतंत्र भारतीय समाज में चल रही जातिवादी राजनीति का पर्दाफाश किया है। यद्यपि दूधनाथ सिंह विचारों से वामपंथी थे लेकिन अपनी विचारधारा से हटकर निरपेक्ष होकर उन्होंने अपनी साहित्यिक रचनाएं की। वह कोई भी पार्टी हो यदि वह जनता के हित में कार्य नहीं कर रहे हो, तो इनकी लेखनी उसके विरूद्ध हो जाती है। इस उपन्यास के माध्यम से वे कम्युनिस्ट पार्टी हो या संघ के लोग सभी का खुलकर बड़ी ही निर्भीकता से विरोध करते हैं। समाज की इस कड़वी सच्चाई को दर्शाना एक दुस्साहसिक कार्य है, जो दूधनाथ सिंह जैसे सरीखे कथाकार के द्वारा ही संभव है। लेखक इस उपन्यास के माध्यम से यह एक कड़वी सच्चाई से हमारा साक्षात्कार कराते हैं कि देश के राजनेता बड़ी-बड़ी सामाजिक, आर्थिक वायदे कर के देश संसद और विधानसभाओं तक तो पहुँच जाते हैं लेकिन सामाजिक अन्याय के विरूद्ध आवाज उठाने का साहस नहीं रखते। इन्हें कभी अपने आर्थिक स्वार्थ दिखते है तो कभी पार्टी लाइन। इसके साथ ही दलित समुदाय का कोई व्यक्ति संसद तक पहुँच जाता है तो वह भी अपने समुदाय की पीड़ा को भूल जाता है या यह कहे कि इस ब्राह्मणवादी सत्ता की राजनीति के आगे अपने को नतमस्तक करके केवल अपना स्वार्थ साधने में लगा रहता है। इसके साथ ही आज भी वर्तमान समय में दलितों के साथ राजनीति

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 70

में खुल्लमखुल्ला मानवाधिकारों का उल्लंघन होता है। लेखक ने यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि इस ब्राह्मणवादी समाज में यदि कोई दलित ऊँचे पद पर पहुँच जाए तो भी उसके साथ दलितों जैसा व्यवहार किया जाता है। मसलन हम देख सकते हैं कि चालीस साल की राजनीति का सफर करने वाले बाबू जगजीवन राम ने बनारस में शिलान्यास तो कर लिया, पर वहाँ के ब्राह्मणों ने उनके द्वारा छूई हुई ईंटों को गंगाजल से धोया था। आज भी हमारे समाज में दलित राजनेताओं के साथ यही होता है फिर भी उनको अपने समुदाय की पीड़ा नहीं दिखती। इस संदर्भ में बुद्धप्रिय मौर्य लिखते हैं कि- "देश में दलित प्रधानमंत्री की बात तब तक बेमानी है, जब तक कि हर चौथा खेत दलित का न हो, हर चौथी युनिवर्सिटी दलित की न हो, फौज का हर चौथा सिपाही दलित का न हो, सर्वोच्च न्यायालय का हर चौथा जज दलित न हो। अभी दलितों को अपने प्रधानमंत्री की बात नहीं सोचनी चाहिए। दलित को समाज में अकेले खड़े होने की क्षमता अभी नहीं आई है। उसे सहारे की जरूरत है और रहेगी।"[1]

[1] दलित राजनीति के मुद्दे, फ्लैप से (राष्ट्रीय सहारा, 18 नवंबर 1995)

2.3. सत्ता तंत्र पर व्यंग्य

बक़ौल मैनेजर पाण्डेय- "साहित्य की रचना और उसके बोध की प्रक्रिया कभी भी अपने सामाजिक संदर्भ से अप्रभावित नहीं रही हैं, लेकिन आधुनिक युग में साहित्य पर सामाजिक संदर्भ और राजनीतिक परिवेश का जितना व्यापक और निर्णायक प्रभाव पड़ रहा है, उतना पहले कभी नहीं था। आज के जमाने में साहित्य की दुनिया केवल सौंदर्य और प्रेम की एकांत साधना के सहारे नहीं चलती है। वह समाज के आर्थिक ढांचे, राजनीतिक परिवेश, सामाजिक संरचनाओं और सांस्कृतिक संस्थाओं से बहुत दूर तक प्रभावित होती है।"[1] अतः स्पष्ट है कि किसी भी काल के साहित्य में तत्कालीन समय के समाज की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रभाव को परिलक्षित किया जा सकता है। साहित्यकार अपने युग का सबसे चेतनशील, जागरूक सृजक होता है। अपने चेतना के सहारे समाज में घट रही विसंगतियों को अपने लेखन में दिखाने का प्रयास करता है। वह अपनी रचना के माध्यम से पाठक की चेतना को व्यापक बनाता है। मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं- "रचनाकार भले ही समाज का शासक न हो लेकिन कई बार शासकों के लिए खतरा जरूर बन जाता है।"[2] ऐसे सैकड़ों उद्धरण हिंदी साहित्य के इतिहास में देखने को मिल जाएंगे जिसमें तत्कालीन युग के कवियों, लेखकों ने सत्ता के विरूद्ध जाकर अपनी रचना को अंजाम दिया। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में असंख्य कविताओं, कहानियों, उपन्यासों, नाटकों को देखा जा सकता है जिनको अंग्रेजों ने प्रतिबंधित कर दिया था। स्वतंत्रता के पश्चात भी कई ऐसे रचनाकारों की कतार को परिलक्षित किया जा सकता है, जिसने सीधे-सीधे सत्ता से लोहा लिया है।

आज का युग पूँजीपतियों का युग है और युगीन संदर्भ में सत्ता का सीधा संबंध आर्थिक शक्ति से है। जिसके पास शक्ति है, वही सत्ता में है और अपने अनुसार सत्ता का दुरुपयोग करता है। वस्तुतः सत्ता का अस्तित्व अधिकार से है। सत्ता निरकुंश होती है। जिसके पास सत्ता की कमान होती है वह

[1] साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि- पृष्ठ- 10-11
[2] वही, पृष्ठ- 35

अपना अधिकार जमाने की पूरी कोशिश करता है। हमारे समाज में सत्ता का अस्तित्व प्राचीन काल से ही रहा है। प्राचीन काल से ही यह समाज कई वर्गों में विभक्त दिखायी पड़ता है। इस वर्ग विभाजित समाज में एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर प्रभुत्व अनादिकाल से स्पष्ट परिलक्षित किया जा सकता है। बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर भारतीय समाज के इस वर्णवाद का विश्लेषण करते हुए बताते है कि- "भारतीय समाज अपने विकास की प्रक्रिया में जातियों के आधार पर समाज का बंटवारा कराता है और ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य तीन उच्च वर्ग (जातियाँ) मिलकर एक उच्च वर्गीय सत्तामूलक समाज की स्थापना करते हैं। इससे भारत का इतिहास, संस्कृति, साहित्य, राजनीतिक, अर्थव्यवस्था, सभी कुछ उच्चवर्णीय वैचारिकी से संचालित होते हैं।"[1] इस अर्थ में सत्ता का स्वरूप सकारात्मक न होकर नकारात्मक होता है। सदियों से ही ब्राह्मणवादी सामाजिक सत्ता ने दलितों का शोषण किया है। साथ ही साथ स्त्रियाँ भी अनादिकाल से इस पितृसत्ता के दंश को झेलती आ रही है और यदि वह स्त्री दलित हो तो इस सत्ता का और भी क्रूर अमानवीय रूप देखने को मिलता है। एक ओर पुरूषवादी पितृसत्ता ने नारी को घर की चारदिवारी में कैद करके रख दिया है तो दूसरी ओर सवर्णवादी सत्ता ने समाज के बहुसंख्यक वर्ग को अपना गुलाम बनाए रखना ही अपना ध्येय समझा। इस संबंध में तेज सिंह लिखते हैं- "अगर आज दुनिया की पितृसत्ताओं का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन-विश्लेषण किया जाए तो आप पाएंगे कि भारत की ब्राह्मणी पितृसत्ता सबसे बदतर, सबसे कठोर, सबसे ज्यादा उत्पीड़नकारी, अन्यायपूर्ण और शोषणकारी रही है। क्योंकि वह नारी को सभी मूलभूत अधिकारों से वंचित करके उन्हें और बदतर स्थितियों की और धकेल देती है। अगर ब्राह्मणी पितृसत्ता ने बहुजन समाज की नारियों पर शोषण और उत्पीड़न के दोहरे रूप को मजबूत आधार-प्रदान किया है तो सवर्ण वर्ग की नारियों को भी उसने और कठोर यौन-नियंत्रण से बांध दिया है।"[2] अतः स्पष्ट है कि सत्ता जिनके हाथ में होती है, वे अपने से कमजोर का शोषण करना आरंभ कर देते हैं। डॉ बी.आर.अम्बेडकर इस संबंध में कहते हैं कि- "यह

[1] सत्ता संस्कृति और दलित सौंदर्यशास्त्र, सूरज बड़त्या, पृष्ठ- 22

[2] अम्बेडकरवादी स्त्री-चिंतन, पृष्ठ- 13

सर्वविदित है कि जिस व्यक्ति के पास सत्ता होती है, वह उस व्यक्ति की अपेक्षा अधिक ताकतवर होता है, जिसके पास यह नहीं होती है। हम सभी जानते हैं कि जिनके पास सत्ता होती है, वे उनके पक्ष में यह सत्ता छोड़ने के लिए कभी तैयार नहीं होते, जो सत्ता के बाहर होते हैं। अतः हमें आशा नहीं है कि हमारी सामाजिक समस्या का समाधान होगा। आज हम जिन्हें सत्ता और सम्मान के सिंहासन पर आरूढ़ करने के लिए सहायता कर रहे हैं, उन्हें हटाने के लिए हमें एक क्रांति करनी होगी, तभी सत्ता हमारे हाथों में आ सकेगी।"[1] बाबा साहब ने न केवल इस बात की ओर संकेत किया है कि समाज में किस प्रकार कोई सत्ता को प्राप्त करता है बल्कि यह भी संकेत देते हैं कि इस सत्ता को क्रांति के माध्यम से ही समूल उखाड़ फेंका जा सकता है।

मादाम स्तेल की राय है कि-"प्रत्येक समाज के साहित्य का अपने समय के राजनीतिक विश्वासों से गहरा परिचय और संबंध होना चाहिए।"[2] इस अर्थ में हम देखें तो स्वतंत्रता के पश्चात जो साहित्य रचा गया उसमें स्वतंत्र भारत के सत्ता के प्रति विद्रोहात्मक स्वर सुनाई है। सन् साठ के बाद के साहित्य में स्वतंत्र भारत की अवसरवादी, मूल्यहीन, आचरणहीन राजनीति का यथार्थ दृश्य देखने को मिलता है। साथ ही साथ सत्ता के विद्रूप चेहरे को भी दिखाया गया है। मसलन नागार्जुन, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि अनेक कवियों ने जहाँ कविता के माध्यम से तत्कालीन स्थिति को बयान किया तो वहीं दूसरी ओर श्रीलाल शुक्ल, फणीश्वर नाथ रेणु, काशीनाथ सिंह, दूधनाथ सिंह जैसे तमाम लेखकों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर भारत के सत्ता तंत्र के भ्रष्ट नेताओं को बेनकाब किया है।

आजादी के बाद जिन लेखकों ने सत्ता के विरुद्ध बेबाकी से लिखा दूधनाथ सिंह का नाम उनमें उल्लेखनीय है। अपनी रचनाओं के माध्यम से इन्होंने समाज के हर मुद्दे पर अपनी कलम चलाई है जिसके जिम्मेदार यह सत्ता और सत्ता पर काबिज मौकापरस्त नेतागण हैं। विचारों से प्रगतिशील दूधनाथ सिंह कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय सदस्य थे। दूधनाथ सिंह यद्यपि कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय सदस्य थे,

[1] दलित महिलाएँ इतिहास, वर्तमान और भविष्य, पृष्ठ- 243

[2] साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि, पृष्ठ- 136

तथापि अपनी रचनाओं में वे कम्युनिस्टो की पोल भी खोलते हैं। 'निष्कासन' हो, 'नमो अंधकारं' हो या 'आखिरी कलाम' सभी में इनकी जन पक्षधरता की अनुगूँज सुनाई पड़ती है। मुक्तिबोध भी लिखते हैं कि- "ध्यान रखने की बात है कि कला सिद्धांत के पीछे एक विशेष जीवन-दृष्टि हुआ करती है, उस जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन दर्शन होता है और उस जीवन दर्शन के पीछे आजकल के जमाने में एक राजनीतिक दृष्टि भी रहती है।"[1]

इसके साथ ही हम देख सकते हैं कि दूधनाथ सिंह की रचनाएं स्वतंत्रता के बाद भारतीय धरातल पर उपजे राजनीतिक सत्ता पर एक करारा व्यंग्य है। मसलन 'निष्कासन' उपन्यास में एक दलित लड़की के संघर्षों के माध्यम से वर्तमान समय की क्रूर अमानवीय सत्ता का यथार्थ वर्णन किया है। लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से इस व्यवस्था का खुलकर विरोध किया है। लेखक ने इसमें यह दिखाने का प्रयास किया है कि वर्तमान समय के समाज में दलितों के प्रति सत्ता किस प्रकार अपनी भूमिका अदा करती है। सदियों से भारतीय समाज पर सवर्णवादी वर्चस्वशाली सत्ता का आधिपत्य रहा। फलतः स्वतंत्रता के पश्चात भी जब सत्ता का हस्तांतरण हुआ तो सत्ता इन्हीं सवर्णवादी नेताओं के हाथ में चली गयी। इन्होंने सदियों से चली आ रही परंपरा का अनुसरण करते हुए दलितों को हाशिए पर धकेल दिया। आज आजादी के करीब पचहत्तर वर्ष होने को है फिर भी समाज में दलितों के साथ हुए अत्याचार पर सत्ता क्या रुख अपनाती है, किसी से छुपी हुई नहीं है। बाकायदा लेखक ने यह दर्ज किया है कि लड़की के साथ दुर्व्यवहार उस समाज में हो रहा है जो अपने को विश्वगुरु मानने का दंभ भरता है, जहाँ संविधान को ताक पर रख कर महिलाओं के साथ यौन शोषण जैसे कुकृत्य को अंजाम दिया जाता है। यह उस समाज में घटित होने वाली घटना है जहाँ प्रजातंत्र की हुमक है, मानवाधिकारों की रक्षा के लिए सैकड़ों सरकारी व गैर सरकारी संगठन हैं, हजारों कमीशन हैं, लाखों न्यायालय हैं। लेखक इस स्वतंत्र भारत की बदहाल स्थितियों का वर्णन करते हुए यह प्रश्न करते हैं- "जब यह सब हो रहा है, तब पिछली शताब्दी का अवसान है। शताब्दी, जो दमन और त्रास और विचारों की बड़बोली और विफल स्वप्नों के

[1] नये साहित्य का सौंदर्य शास्त्र, पृष्ठ-57

इन्द्रजालिक चीत्कार और एक शालीन ले-लपक के नारकीय उत्सवान्त में लिथड़ी हुई है; जिसमें दुस्साहसों का अद्भुत विलास है; जिसमें अँधेरे के आदिकालिन पर्दों के उठने से चकमक प्रकाश का चौंधियाता हुआ भय सर्वव्यापी बनने के प्रयत्न में चुपके-चुपके दहाड़ रहा है; जिसमें इंसानियत की उठती हुई लौ को बार-बार फूँक मार कर बुझाने की सच और झूठ की चमक-दमक साथ-साथ हर कदम पर ताल देती हुई चलती है; जिसमें असहायता बार-बार अंगारे की तरह फूट कर लपक मारती है।...जहाँ प्रजातंत्र की हुमक है; मानवाधिकारों की चहल-पहल है, दबे-कुचले आदमी को बचाने और बढ़ाने के लिये जहाँ हर कदम पर कुकुरमुत्तों की तरह अपना छोटा-बड़ा छाता पसारे गैरसरकारी संगठन हैं...जहाँ ठेके पर सेवा है और ठेंगे पर सेवा है; जहाँ भारतीय स्त्री अपनी दमन की दरारों से बार-बार बाहर झाँकने के प्रयास में एक मीठी धूल फाँकती हुई नज़र आती है...जहाँ विश्व बैंक एक नये समन्वयवादी दर्शन इठला-इठला कर पान के बीड़े की तरह पेश कर रहा है- 'लीजिए हुज़ूर नोश फ़रमाइए और उन्नति कीजिए'; जहाँ हजारों कमीशन हैं, लाखों न्यायलय है...वहाँ इस टुच्ची-सी रात में एक कलूटी-सी लड़की का बद्हवास, इधर-उधर अँधेरे में भागना और बचना क्या मतलब रखता है?"[1] लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि वर्तमान समय में इतने संसाधनों के होने के बावजूद लड़की का इस कदर दर-ब-दर भटकना न केवल पूरी व्यवस्था को कटघरे में खड़ा कर देता है बल्कि इस आजादी के मायने पर भी प्रश्न चिह्न लगा देता है। यह विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र की विफलता को दर्शाता है जहाँ किसी को न्याय के लिए दर-दर भटकना पड़े। इस संबंध में शायर अली सरदार जाफ़री की नज़्म बिल्कुल सटीक लगती हैं कि- "कौन आज़ाद हुआ?/ किसके माथे से गुलामी की सियाही छूटी,/ मेरे सीने में अभी दर्द है महकूमी का/ मादर-ए-हिन्द के चेहरे पे उदासी है वही।"[2]

सत्ता लोगों को मौकापरस्त बना देती है या कहे कि सत्ता पर काबिज होते ही लोग अपनी जमीनी हकीक़त को भूलने लगते हैं। वैसे संविधान तो सबको समानता का अधिकार देता है। सभी को मत देने

[1] निष्कासन, पृष्ठ-51

[2] www.rekhta.org (अली सरदार जाफरी)

का अधिकार है। वर्तमान समय में संसद में दलितों के लिए सीटें आरक्षित हैं लेकिन सवाल यह है कि इन सीटों पर चुने जाने वाले दलित सांसद अपने समुदाय के हितों के विषय में कितने चिंतित दिखाई देते हैं? बीबीसी के पत्रकार दिलीप मंडल अपनी एक रिपोर्ट में लिखते हैं कि- "संसद और विधानसभाओं में आरक्षित सीटों की वजह से चुनकर आने वाले लगभग बारह सौ जनप्रतिनिधियों ने अपने समुदाय को लगातार निराश किया है। दलित और आदिवासी हितों के सवाल उठाने में ये जनप्रतिनिधि बेहद निकम्मे साबित हुए हैं।"[1] दूधनाथ सिंह ने अपने उपन्यास निष्कासन के माध्यम से यही दिखाने का प्रयास किया है कि दलित समुदाय से सत्ता में आने वाले लोग किस प्रकार अपने समुदाय की पीड़ा, वेदना आदि को नज़रअंदाज कर देते हैं। उनकी भी मानसिकता शोषकों वाली ही हो जाती है। उपन्यास में वर्णित चाहे वह उच्चपदासीन महामहीम हो या नन्हें लाल खटिक जैसे नेता, सभी जनता के साथ अवसरवादी राजनीति कर रहे हैं। जब लड़की अपनी फरियाद लेकर नन्हें लाल खटिक के पास जाती है तो नन्हें लाल का कथन इस बात की पुष्टि कर देता है। वह लड़की से कहता है- "तो तुम चाहती हो कि हॉस्टल में जो फल और सब्जी का ठेका है मेरा, उसे एक छोकरी के लिए छोड़ दूँ मैं? मेरा बचा-खुचा धन्धा-पानी बन्द हो जाय...क्यों? और किसलिए? मेरा क्या फायदा होगा? आदमी कोई चीज़ तब गँवाता है, जब उससे बड़ी चीज़ हासिल हो। और इनकी पार्टी में रह कर मैं जातिवादी राजनीति करूँ? कर सकता हूँ क्या? नन्हें लाल खटिक नीची नज़रें किये अखरोट के बीजे निकाल रहा था।"[2]

राजनीति तो राज्य को सुचारू रूप से चलाने वाली नीति का नाम है, लेकिन वर्तमान समय की राजनीतिक सत्ता का स्वरूप ऐसा हो गया है कि उसमें मानवीय मूल्यों का कोई स्थान नहीं रह गया है। सभी स्वार्थ के मद में चूर हैं। सत्ता पर पहुँचते ही लोग अपने हितों को देखते हुए समुदाय के हितों को दरकिनार कर देते हैं। सत्ता पर काबिज होने के पूर्व लोगों से वायदे तो बहुत किए जाते है, सपने तो खूब दिखाए जाते हैं, लेकिन आश्चर्य तो तब होता है, जब नन्हें लाल जैसा अवसरवादी नेता बड़ी ही बेशर्मी

[1] Bbc.com, 23 दिसंबर 2017, दिलीप मंडल की रिपोर्ट

[2] निष्कासन, पृष्ठ-86

से इस बात को स्वीकारता हैं कि उन्हें सबसे पहले अपना हित प्यारा है, किसी और की समस्या से उन्हें कोई मतलब नहीं। लड़की और उस नन्हें लाल खटिक के संवादों के माध्यम से लेखक ने सत्ता पर काबिज ऐसे ही मौकापरस्त नेताओं को बेनकाब किया हैं-

"तो आप किसलिए हैं वहाँ? लड़की ने कहा।

'दलाली के लिए और अपनी चमड़ी बचाने के लिए', नन्हें लाल ने बेखटके कहा, लेकिन कौन है तू? हमसे भीख भी माँगेगी और हमीं को हुरपेटेगी भी। इतनी हिम्मत तुझे किसने दी? मायावती बनना चाहती है तू, और यूनिवर्सिटी के पंडों के बीच में?' नन्हें लाल के कथन में किंचित वात्सल्य था।"[1] नन्हें लाल के इस कथन से लेखक ने यह स्पष्ट दिखलाया है कि वर्तमान समय में भारतीय राजनीतिक सत्ता का स्वरूप भ्रष्ट हो चुका है। नन्हें लाल का यह कथन उस सवर्णवादी मानसिकता का परिचायक है जो यह मानकर चलता है कि दलितों को सत्ता में इसीलिए लाया गया है कि लोगों में यह संदेश जाए कि वे केवल सवर्णों के नेता नहीं है, दलितों के भी नेता है। उपन्यास इस यथार्थ का बड़ा ही सूक्ष्म तरीके से चित्रण करता है। उपन्यास में बताया गया है कि महामहिम जो स्वंय दलित समुदाय से आते हैं तथा दलितों के मामले को बड़ी ही गंभीरता से लेते हैं, लेकिन किसी 'राष्ट्रीय चुगलखोर' के माध्यम से उनको उस पद पर बैठाये जाने का उद्देश्य पहुँचा दिया जाता है। उन्हें यह समझा दिया जाता है कि उनका यहाँ आना क्यों हुआ है? इसका वर्णन करते हुए दूधनाथ सिंह कहते है- "इस ऊर्वर प्रदेश में आपको इसलिए भेजा गया है कि हमारे वोट-बैंक में जमा-पूँजी तेजी से बढ़े। इसलिए कि आप आये तो दलितों में यह संदेश जायेगा कि हम खाली सवर्णों के नेता नहीं हैं। और कहाँ है? है क्या? आपका आना इसलिए हुआ कि देखो, हमारे विचारों में, हमारी राजनीति में कितनी तब्दीली आयी है। हमारी नज़र में देश का हर आदमी बराबर है। सब को सम् पर लाना ही तो साम्राज्य है, और उसी के लिए हमारी पहलकदमी है। तो इस पहलकदमी में हमारा साथ दीजिए आप। यह नहीं कि आते ही एक नया शिगूफ़ा खड़ा कर

[1] निष्कासन, पृष्ठ-86

दो, एक दलित एजेंडा हवा में उछाल दो।"[1] वर्तमान समय की सवर्णवादी वर्चस्वशाली सत्ता का यही रूप सामने देखने को मिलता है। दलितों और अल्पसंख्यकों को राजनीति में लाने का मतलब अपने वोट बैंक को बढ़ाना है।

यह वर्चस्वशाली सत्ता समाज में कई रूपों में कार्य करती है। सही मायने में यह समाज पुरुषवादी सत्ता द्वारा संचालित होता है। यह पुरुषवादी समाज कभी स्त्रियों को प्रगति करते हुए नहीं देख सकता है और स्त्री अगर दलित हो तो यह समाज उस पर दोहरे प्रतिबंध लगाने का प्रयास करता है। मसलन इस उपन्यास में भी देख सकते हैं कि शिक्षा के लिए देश के तथाकथित बड़े विश्वविद्यालयों में गयी लड़की पर उस विश्वविद्यालय में एक लड़के द्वारा यह कहना कि- "लम्बा झाड़ू पकड़ा दो भाइयों, ये पढ़-लिख कर क्या करेगी?"[2] समाज की पुरुषवादी सवर्ण मानसिकता का ही द्योतक है। इस प्रकार यह उपन्यास पुरुषवादी समाजिक सत्ता के क्रूर सच्चाई को दर्शाता है।

लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से यह दिखाने का प्रयास किया है कि न्याय की सत्ता भी सवर्णवादी वर्चस्वशाली सत्ता के पक्ष में ही रहती है। इस उपन्यास के माध्यम से न्याय की सत्ता पर कटाक्ष करते हुए कहा गया है- "भारतीय लोकतंत्र में अगर कोई संस्थान है, जिसके प्रति लोगों की अंतिम आस्था बची है, तो वह है न्यायपालिका। वहाँ तो मिलेगा ही मिलेगा न्याय। माननीय न्यायमूर्ति इस क्षुद्र संसार के लोग नहीं हैं। वे दूसरी दुनिया से आते हैं। वे असम्पृक्त हैं, मुक्त हैं, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान। वीतराग और उदासीन, लेकिन न्याय के प्रति सजग और हरदम चौकन्ने। आप कुछ भी कर लीजिए, अन्त में जो होगा वह-न्याय। खुदा का दरवाज़ा बन्द हो सकता है, माननीय न्यायमूर्तियों का नहीं।"[3] लेकिन न्याय के प्रति सजग और हरदम चौकन्ने न्यायमूर्ति भी सत्ता पक्ष के साथ खड़े होते हुए लड़की को न्याय न दिलाकर अपने को इससे अलग कर लेते हैं। यह हमारे देश का कह लें या समाज की एक अजीब विडंबना है कि जो जाँच के घेरे में होता है उसे ही सत्ता का संरक्षण प्राप्त होता है। हाथरस,

[1] निष्कासन, पृष्ठ-70

[2] वही, पृष्ठ- 25

[3] वही, पृष्ठ- 136

उन्नाव, कठुआ जैसे न जाने कितने मामले इस देश में घटित होते रहते हैं लेकिन सवाल यह है कि इनमें से कितनों को न्याय मिल पाता है? कितने लोगों को न्यायालय तक पहुँचने दिया जाता है? क्योंकि अधिकतर मामलों में यह नौकरशाही तंत्र वर्चस्वशाली सत्ता के साथ मिलकर मामलों को रफा-दफा कर देते हैं। मसलन इस उपन्यास में देखा जा सकता है कि लड़की के न्याय के लिए बनी जाँच-कमेटी में जाँच के घेरे में मैडम को भी उस कमेटी के सदस्य के तौर पर रखा जाता है जैसा की वर्तमान समय में अमूमन देखने को मिल ही जाता है। ऐसी स्थिति में इन सवर्णों से न्याय की क्या ही आशा की जा सकती है! इसका विरोध करते हुए लड़की कहती है- "जाँच-कमेटी से अधीक्षिका यानी मैम को हटाया जाय। जब वह खुद जाँच-कमेटी के घेरे में हैं तो जाँच-समिति की सदस्य की हैसियत से कैसे बैठ सकती हैं? जो कठघरे में है, वही न्याय की कुर्सी पर भी बैठेगा? क्या आत्मालोचन करने के लिए या गांधियन हृदय-परिवर्तन के लिए? तब तो सभी निर्णय गैरकानूनी हो जायेंगे। ऐसे हालात में मुझे न्याय कैसे मिल सकता है?"[1] वर्तमान समय में भी हम देख सकते हैं कि अपराधी को बचाने के लिए सभी कोई मिलकर पीड़ित व उसके परिवार वालों को मानसिक तौर से परेशान करते हैं। लड़की के लाख विरोध करने के बावजूद मैम का नाम उस सूची से नहीं हटाया जाता है बल्कि यह वर्चस्वशाली सत्ता न्याय के लिए उसी स्थान को चुनती है जहाँ पर लड़की के साथ यौन शोषण होते-होते बचा था। दूधनाथ सिंह लिखते हैं- "जाँच का समय और तारीख़ तो ठीक, लेकिन स्थान वही- अधीक्षिका निवास। और सूची में मैम का नाम भी।"[2]

वर्तमान समय में मीडिया की भूमिका को भी संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा है। देश का चौथा स्तम्भ माना जाने वाला मीडिया भी आज के दौर में अपंग हो चुका है। इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने वर्तमान समय की मीडिया की भूमिका को भी प्रश्नांकित किया है। मीडिया का दायित्व है कि वह समाज में घटित घटनाओं का सही-सही विवरण प्रस्तुत करें लेकिन वही आज सत्ता के हाथों की

[1] निष्कासन, पृष्ठ-80

[2] वही, पृष्ठ-90

कठपुतली बन चुका है। यह वर्चस्वशाली सत्ता उसे अपने अनुरूप लिखने के लिए बाध्य करती है। मसलन इस उपन्यास में हम देख सकते हैं कि लड़की के उत्पीड़न का मामला जब अख़बारों में छपता है तो संपादक सवर्णवादी मैडम और कुलपति के रिश्तों के आधार पर ख़बर को तैयार करता है- "दूसरे दिन अख़बारों के कोनों- अँतरों में दबी एक छोटी-सी ख़बर थी। अख़बार वालों ने माननीय कुलपति और माननीय अधीक्षिका से अपने 'रिश्तों' के आधार ख़बर 'बनायी' थी। किसी अख़बार में विस्तृत रपट नहीं थी। किसी भी अख़बार में बतौर शीर्षक 'दलित छात्रा का उत्पीड़न की कोशिश नहीं टँका था। शीर्षक था 'जाँच-समिति का गठन।' होगी कोई जाँच-समिति। हजारों जाँच-समितियाँ रोज़ बनती रहती हैं। कोई भी हादसा हो, एक जाँच समिति बैठा दो और निश्चिन्त हो जाओ। कौन पढ़ता है, कोने में छिपी इस खब्रर को? खाये-पीये, धुपाये बूढ़े या ढ़ाबों पर बैठे, चाय की चुस्की का इंतज़ार करते निःसंग बैठकबाज़। इन दोनों की प्रतिक्रिया होगी- शून्य। या अधिक से अधिक एक बूढ़ा सुबह टहलते हुए, किसी दूसरे बूढ़े से कहेगा, 'देखिये साहब, कैसा ज़माना आ गया है!'"[1] अख़बार वालों के सामाजिक मुद्दों के प्रति यह उदासीनता वर्तमान समय में भी विद्यमान है। आज भी बड़े से बड़े संवेदनशील व मुख्य मुद्दों को रिश्ते के आधार पर या तो सत्ता के भय से अख़बार के किसी कोने में ही जगह देते हैं जिसे पढ़ने में आम जनमानस रुचि नहीं लेता है। 'आख़िरी कलाम' उपन्यास में भी प्रोफ़ेसर तत्सत पांडे के व्याख्यान के बाद घटने वाली घटनाओं को अख़बारों में बड़े ही विचित्र ढ़ंग से प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार वर्तमान समय में मीडिया अपने सिद्धांतों को छोड़ कर सत्ता की सेवा को ही जन सेवा मान कर अपना हित साधने में लगा है, उसे जनता के सरोकारों से कोई मतलब नहीं।

दूधनाथ सिंह अपने समय के समाज की विसंगतियों से भलीभांति परिचित हैं। उन्होंने इस उपन्यास के माध्यम से यह दिखाने का प्रयास किया हैं कि कैसे समाज से मानवीय संवेदनाओं का ह्रास हो रहा है। लड़की की शिकायतों पर केवल फाइलों को एक टेबल से दूसरे टेबल तक भेजने की हवाई कार्यवाई ही होती है। दिखाने के लिए लड़की के लिए दो समितियों का गठन किया जाता है। एक

[1] निष्कासन, पृष्ठ-76

'महिला सलाहकार समिति' और दूसरी विश्वविद्यालयों के अधिकारियों-प्रध्यापकों की। लेखन ने बड़े ही स्पष्टता के साथ यह दिखाया है कि सवर्ण शिक्षकों ने बड़ी ही चालाकी से इस समिति में उस दलित प्रोफ़ेसर को शामिल किया जिसकी नौकरी खुद कार्य परिषद में फंसी थी और गांधी जी की चेली जो सही से सुन भी नहीं सकती थी उसको महिला समिति का अध्यक्ष बना दिया- "महिला जाँच-समिति की रिपोर्ट स्वयं डॉ. शार्दूल विक्रम सिंह ने अपने हाथों से लिखी। जाँच-समिति की सदस्याएँ चाय-पानी करती रहीं। गाँधी जी की बूढ़ी चेली उस कमरे की साज-सजावट को धुँधली नज़रों से देखती रहीं। उन्हें सारी आवाज़ें दूर से आती लगतीं। लड़की जब अन्दर बुलायी गयी तो उन्हें लगा, वह गोधूलि के भीतर से निकल कर चली आ रही है।"[1] लेखक वर्तमान समय में सत्ता के साथ बुद्धजीवियों की सांठ-गांठ पर भी व्यंग्य करते हैं और दिखाते हैं कि किस प्रकार समाज के वर्तमान समय का बुद्धिजीवी वर्ग ने अपने को सत्ता के समक्ष गिरवी रख दिया है। लड़की जब अपनी अंतिम उम्मीद लिए एक दलित सांसद के पास जाती है तो वहाँ भी उसे निराशा ही हाथ लगती है। लड़की जब उस सांसद के पास पहुँचती है और जो दृश्य वह देखती हैं उसका वर्णन इन शब्दों में किया गया है- "लड़की ने उनमें से कुछ लोगों को पहचाना। उनमें कई यूनिवर्सिटी प्राध्यापक थे। यूनिवर्सिटी में जिनके कमरों में घुसते डर लगता था, वे यहाँ लाइन लगाये, सन्नाटा खींचे बैठे थे, जैसे उनका भी आई. कार्ड खो गया हो। एक तो ऐसे जो अपनी चुटिया और छड़ी में पूरा आदि वेदान्त गँठियाये हुए, इस मिथ्या संसार में पिछले सत्तर वर्षों से भटक रहे थे।"[2]

समाज में कोई भी दलित वर्चस्वशाली सत्ता को चुनौती देने का साहस नहीं करता। लेकिन वर्तमान समाज में हुए बदलाव ने दलितों के जीवन में थोड़ी सी उम्मीद जगायी है। लेखक इस बात को भी रेखांकित करते है। लेखक ने अनुसूचित जाति जनजाति आयोग के चेयरमैन के माध्यम से इस सवर्णवादी सत्ता पर करारा व्यंग्य किया है। डॉ. छागला का यह कथन कि- "यानी आप जाँच-कमेटी के

---

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 108

[2] वही, पृष्ठ- 124

चेयरमैन भी हैं, कुलपति के प्रतिनिधि भी और ब्राह्मण भी, आयोग के चेयरमैन ने पैंसठ अवैध लड़कियों की सूची हवा में फहरायी, दलित लड़की हो तो धन्धा करवाने की कोशिश करेंगे, घूस माँगेंगे और न हो पैसा तो कहेंगे, 'उसके बदले कुछ और दो।' आप सवर्ण लोग हैं, बुद्धिजीवी हैं- आप लोगों के पास सब कुछ है, फिर भी 'कुछ और दो' की आदत नहीं गयी? पहले निश्चिन्त ज़बर्दस्ती थी, अब वही काम उत्पीड़न और धमकी के साथ? आपने रिपोर्ट तो दे ही दी है, कोई बयान देना चाहते हैं, कुलपति की ओर से?"[1] इसी बात की ओर संकेत करता है। लेकिन वे भी इस सत्ता के आगे अपने को विवश पाते हैं। यह सवर्ण समाज उनके तेवर को भांप उनकी जगह किसी और को चेयरमैन बना देते हैं जो उनके दल का होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज में सवर्णों का समाज और सत्ता पर सदियों से आधिपत्य रहा है। सत्ता में दलितों, कमजरों की समस्याओं के समाधान के लिए कोई स्पेस नहीं है। सवर्णवादी सत्ता उनको केवल अपने फायदे के लिए ही उपयोग करती आ रही हैं। सत्ता सदियों से वर्चस्वशाली लोगों के हाथ में रही है। अतः स्वातंत्र्योत्तर भारत में सत्ता की विफलता पर व्यंग्य करते हुए दूधनाथ सिंह लिखते हैं- "केंचुए की तरह आगे-पीछे, दाँयें-बाँयें घिसटना? क्या हमारे देश का एक सर्वमान्य, सामान्य नैतिक नियम बन गया है? क्या इसी के बल पर इतिहास रचा जाता है, संस्कृतियाँ बनती हैं, हम गर्व से सिर तान कर चलते हैं? क्या है वह, क्या है, जहाँ कायरता जीवित रह पाने का मूल मंत्र है? और हर कोई, हर दूसरे से इस बात को छिपाता है। क्या आपको मारने के पहले सारे आरोप और सारे सवाल पर्दे के भीतर उस शाही शामियाने से नहीं आते, जहाँ से यह तय है कि जवाब कुछ भी हो, अन्ततः तुम्हें मरना ही है?"[2] इसी संबंध में रामधारी सिंह की एक कविता की पंक्तियां दृष्टव्य है-

---

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 111

[2] वही, पृष्ठ- 123

"घातक है, जो देवता-सदृश दिखता है,

लेकिन, कमरे में गलत हुक्म लिखता है,

जिस पापी को गुण नहीं, गोत्र प्यारा है,

समझो, उसने ही हमें यहाँ मारा है।"[1]

[1] परशुराम की प्रतिक्षा, पृष्ठ- 10

अध्याय-3

‘निष्कासन’ में व्यक्त दलित समुदाय एवं स्त्री के प्रति समाज का रुख

3.1. 'निष्कासन' में व्यक्त दलित समुदाय के प्रति समाज का रुख

"हिन्दुस्तान देश केवल विषमता का आश्रय स्थान है। हिन्दू समाज उसकी एक मीनार है और प्रत्येक जाति उसकी एक मंजिल है। लेकिन ध्यान रखने की बात यह है कि इस मीनार में सीढ़ी नहीं लगी है। एक मंजिल से दूसरी मंजिल तक जाने के लिए उसमें मार्ग नहीं रखा गया है। जिस मंजिल में जन्में, उसी मंजिल में मरे। नीचे की मंजिल में जन्मा व्यक्ति चाहे कितना लायक क्यों न हो, उसे ऊपर वाली मंजिल में प्रवेश नहीं और ऊपर की मंजिल में जन्मा व्यक्ति चाहे कितना ही नालायक क्यों न हो, उसे भी मंजिल से ढ़केलने का साहस, किसी में भी नहीं। सचेतन और अचेतन पदार्थ सारे ईश्वर के रूप हैं, ऐसा कहने वाले स्वधर्मियों को ही अपवित्र मानते हैं।"[1]- डॉ.बी.आर.अम्बेडकर

दलित समुदाय पर बात करने से पहले यह अतिआवश्यक है कि इस प्रश्न का समाधान कर लिया जाए कि दलित किसे कहेंगे? दलित की परिभाषा में कौन फिट बैठते हैं? ऐसा माना जाता है कि दलित हमारे समाज का वह बहुसंख्यक वर्ग है, जिसे सदियों से हमारे भारतीय समाज में धर्म, संस्कृति, परंपरा के नाम पर शोषित किया गया है। जिसे आज भी उसे उसके मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया है। जिसे आजादी के पचहत्तर वर्षों बाद आज भी गंदी बस्तियों में रहने, शिक्षा से वंचित रहने के लिए विवश किया जाता हो। जिसे आज भी उसे उसके नाम से नहीं 'उपनाम' से जाना जाता हो, जिस वर्ग को यह सवर्णवादी समाज 'बे', 'चूहड़े', जैसे उपनाम से संबोधित करता हो। जिसे आज भी हमारा समाज उसके ज्ञान को महत्व न देकर उसकी जाति को महत्व देता हो भले ही वह देश के किसी भी बड़े संस्थान के उच्च पद पर आसीन क्यों न हो। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपनी पुस्तक 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में रामनारायण द्विवेदी के कथन को उद्धृत कर समाज के इस नग्न यथार्थ को दिखाया है- "अजी हमें क्या मतलब, आप कलट्टर भी हैं। नौकरी करने से आदमी की जात तो नहीं बदल जाती। रहता तो वही है।"[2] स्पष्ट है कि समाज का वह वर्ग जो सदियों से इस ब्राह्मणवादी सामन्ती मानसिकता

[1] ई पी जी पाठशाला, एच.एन.डी_पी12_एम1

[2] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ- 113

का शिकार हुआ और हो रहा है, उसे ही दलित कहा जा सकता है। भिन्न-भिन्न साहित्यकारों ने दलित शब्द को परिभाषित करने का प्रयास किया है। दलित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि 'दलित' शब्द को परिभाषित करते हुए अपनी पुस्तक 'दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र' में लिखते हैं- "दलित शब्द का अर्थ है- जिसका दलन और दमन हुआ है, दबाया गया है, शोषित, सताया हुआ, गिराया हुआ, उपेक्षित, घृणित, रौंदा हुआ, मसला हुआ, कुचला हुआ, वनिष्ट, मर्दित, पस्त-हिम्मत, हतोत्साहित, वंचित आदि।"[1] वहीं कँवल भारती इस शब्द को व्याख्यायित करते हुए लिखते हैं- "दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गन्दे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतन्त्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और वही दलित है, और इसके अन्तर्गत वही जातियाँ आती हैं, जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।"[2] इस प्रकार कई दलित चिन्तकों ने इस शब्द को परिभाषित करने का प्रयास किया है।

भारतीय समाज में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था का लंबा इतिहास रहा है। इस वर्ण-व्यवस्था ने समाज को कई वर्गों में विभक्त कर दिया है। यह वर्ग भेद दिन प्रतिदिन समाज में वैमनस्यता की भावना को उग्र करता जा रहा है। आज हम प्रगति के सारे आयामों को पाने के लिए प्रयासरत दिखते हैं, लेकिन अपने मस्तिष्क से इस जातिगत रुग्ण मानसिकता को निकालने के लिए प्रयासरत नहीं दिखते हैं। आज भी कहीं गोरे-काले तो कहीं ऊंच-नीच की जातिगत भावना विद्यमान है। इस मामले में हमारा भारतीय समाज अन्य देशों की तुलना में बहुत आगे है, जहाँ हर एक जाति अपने से छोटी जाति को ढूँढ़ लेता है। साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैः भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था के आधार पर जो बंटवारा हुआ है, उसकी ही देन है जातिभेद। जो असमानता, वर्चस्व और शोषण पर आधारित है। वर्ण-व्यवस्था के पक्षधर यह मानने को तैयार ही नहीं हैं कि विकास को रोक देने वाली यह व्यवस्था प्रगति

[1] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र,, पृष्ठ- 13
[2] वही

पथ को सीमित कर देती है और समाज को संकीर्णता में बांध देती है। इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि हमेशा से एक वर्ग ने दूसरे वर्ग पर या यह कहे कि वर्चस्वशाली सत्ता ने कमजोर, दलित, शोषितों आदि पर अपना आधिपत्य कर उसका भरपूर शोषण किया है। इस शोषित, दमित वर्ग को हमेशा से ही उसके अधिकारों, शिक्षा से महरूम रखा गया। यद्यपि स्वतंत्रता पश्चात संविधान द्वारा उन्हें समाज में सामाजिक और आर्थिक अधिकार प्रदान किए गए तथापि समाज में आज भी यह कुरीति अपने उसी रूप में विद्यमान है। आज भी समाज में इस ब्राह्मणवादी वर्चस्वशाली सत्ता ने दलितों पर अपना आधिपत्य जमाए रखा है। इनको हिंदू समाज व्यवस्था में सबसे निचले पायदान पर रखा है, जिसके कारण इन्हें समाज में अस्पृश्य माना जाता है। ब्राह्मणवादी सामन्ती मानसिकता वाले लोगों का उद्देश्य ही यही था कि निम्न जाति व स्त्री को अपने अधिकारों के प्रति जागरुक न बनने दे और हमेशा इनसे अपनी गुलामी कराते रहें। स्वयं को सुरक्षित रखने के लिए ही इन्होंने सभी जातियों के कार्य निर्धारित कर दिए ताकि सभी अपने कार्यों में लगे रहें और इनके अत्याचारों के खिलाफ विद्रोह न करें। डॉ. देवेन्द्र चौबे दलित साहित्य की संघर्षशीलता पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं- "दलित लेखन का वास्तविक संघर्ष भारतीय समाज, संस्कृति, धर्म और इतिहास के पवित्र तथा उत्कृष्ट समझे जाने वाले मुख्यतः तीन प्रतीकों से है- शिक्षण संस्थान, गुरू यानी शिक्षक एवं प्रेम। यह तीनों की पवित्रता और उत्कृष्टता पर प्रश्न-चिन्ह खड़ा करते हुए कड़ा प्रहार करता है और यह मानकर चलती है कि दलित समाज को अपने व्यक्तित्व निर्माण और सामाजिक विकास की प्रक्रिया में इन तीनों की नकारात्मक भूमिकाओं का सामना करना पड़ता है।"[1] वर्तमान समय में भी दलित समुदाय को इन तीनों को प्राप्त करने में काफी जद्दोजहद करनी पड़ रही है। कइयों को तो इस समाज में अपने जान से भी हाथ धोना पड़ जाता है।

हिंदी साहित्य की मुख्यधारा में लिखने वाले रचनाकारों ने दलित समुदाय की पीड़ा को नज़रअंदाज कर उन्हें साहित्य में स्थान नहीं दिया। मुख्यधारा के साहित्यकारों ने दलित समुदायों की पीड़ा, वेदना, मुक्ति की छटपटाहट को दरकिनार कर उन्हें हाशिए पर धकेल दिया था। इस मुख्यधारा पर

[1] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ- 62

टिप्पणी करते हुए राजेन्द्र यादव कहते हैं- "स्वतंत्रता से पहले, लगभग 90 प्रतिशत हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा पटना, इलाहाबाद, लखनऊ, इन्हीं चार-पाँच शहरों तक सीमित रही है...सनातनता में रहनेवालों की यह कैसी असंवेदनशीलता है कि आसपास कुछ भी घटित होता रहे, मुख्यधारा का साहित्य दसियों साल उसका नोटिस ही नहीं लेता...शायद यही कारण है कि अधिकांश हिन्दी लेखन या तो जीवनहीन है, भयानक रक्ताल्पता का शिकार। अपनी उस कमजोरी को वह बौद्धिक घटाटोप से पूरा करता है।"[1] लेकिन स्वतंत्रता पश्चात इस शोषित, संतप्त समाज को संविधान द्वारा समाज में कदम से कदम मिलाकर चलने की, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार मिला तो सदियों से दबी हुई आवाज को मुखरित होने का स्पेस मिला। जिसके परिणाम स्वरूप सदियों से पीड़ित इस समुदाय ने अपनी पीड़ा को, अपनी मुक्ति की छटपटाहट को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त किया।

सन् 1960 के आस-पास दलित साहित्यकारों द्वारा लिखे गए साहित्य को हिंदी साहित्य में दलित साहित्य के नाम से जाना गया। यह साहित्य प्रतिरोध का साहित्य है। यह साहित्य समाज में स्थापित वर्ण-व्यवस्था का खुलकर विरोध करता है तथा समाज में समता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व की भावना का समर्थन करता है। रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि- "दलित साहित्य उस दबी हुई अस्मिता को प्राणवान मानव-अस्मिता का हिस्सा बनाने की लड़ाई लड़ रहा होता है, जब वह वर्णविहीन, वर्गविहीन, जातिविहीन समाज बनाकर एक मानवीय समाज बनाने की घोषणा करता है। जनवादी, प्रगतिशील और जनतात्रिंक साहित्य जो भारत के जन्मना जाति के सन्दर्भ में केवल वर्ग की ही बात करते-करते एकतरफा, कहें कि इकहरा हो गया था- दलित साहित्य ने सामाजिक समानता और राजनीतिक भागीदारी को भी साहित्य का विषय बनाकर उनकी आर्थिक समानता की अधूरी मुहिम को पूर्णता दी। इन तीनों मुद्दों पर समानता प्राप्त किए बगैर मनुष्य पूर्ण समानता प्राप्त नहीं कर सकता। दलित साहित्य इस पूर्ण समानता के लिए संघर्षरत है।"[2]

[1] दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ- 99

[2] वही, पृष्ठ- 25

स्पष्ट है कि 'दलित' समाज का वह एक तबका है जिसे इस वर्ग विभाजित ब्राह्मणवादी समाज में सदियों से शोषण का शिकार होना पड़ा, जिसे उसके अधिकारों से वंचित रखा गया, जिसे हमेशा से ही नीच, अस्पृश्य समझा गया, जिस पर धर्म, संस्कृति, परम्परा के नाम पर अनेक अत्याचार ढ़ाहे गए। यह वह वर्ग है जिसके प्रगति के मार्ग में ब्राह्मणवादी वर्चस्वशाली सत्ता ने सदियों से कांटे बिछा रखे हैं। वर्तमान समय में भी यह जड़ मानसिकता लोगों के मस्तिष्क में विद्यमान है जिसके कारण यह वर्ग विभाजन की खाई को पाट पाना अत्यंत ही कठिन है। आज भी आय दिन अख़बारों में दलित उत्पीड़न के मामले देखने को मिल जाते हैं। भारत में अनेकों विचारक, चिन्तक हुए लेकिन इनकी व्यथा को यथोचित अभिव्यक्ति न मिल पाई थी। अतः बाबा साहेब अम्बेडकर, ज्योतिबाफुले, सावित्रीबाई फुले, पेरियार जैसे विचारकों ने अपने समाज में जागृति और चेतना लाई तथा उस सामंतवादी ब्राह्मणवादी ढ़ांचे को तोड़ने के लिए उसका खुलकर विरोध किया। बाबा साहेब अम्बेडकर का स्पष्ट मानना था कि- "हर एक कांग्रसी को, जो दार्शनिक मिल के सिद्धांत को दोहराता है कि एक देश को दूसरे देश पर शासन करने का अधिकार नहीं है। उसको यह भी मानना पड़ेगा कि एक वर्ग दूसरे वर्ग पर शासन करने के लायक नहीं है।"[1]

दलित साहित्य में स्वानुभूति और सहानुभूति का प्रश्न दलित लेखन के आरंभ से ही चलता आ रहा है। दलित लेखकों तथा चिन्तकों का मानना है कि कोई दलित लेखक ही दलित रचना कर सकता है, गैर दलित लेखक नहीं। उनका मानना है कि लेखक की रचना में उसका समाज दिखता है, उसकी पीड़ा दिखती है। जाहिर है कि जिसने उस कष्ट को सहा होगा वही अपनी पीड़ा को बेहतर तरीके से व्यक्त कर पायेगा। ओमप्रकाश वाल्मीकि इस संबंध में लिखते हैं- "दलित रचनाकार अपने परिवेश एवं समाज के गहरे सरोकारों से जुड़ा है। वह अपने निजी दुःख से ज्यादा अपने समाज की पीड़ा को महत्ता देता है। जब वह 'मैं' शब्द का प्रयोग कर रहा होता है तो उसका अर्थ 'हम' ही होता है। सामाजिक चेतना उसके लिए सर्वोपरि है। अपने समाज के दुःख दर्द उसे ज्यादा पीड़ा देते हैं। उनके उन्मूलन के लिए ही उसने

[1] जात-पांत का विनाश, पृष्ठ- 18

लेखन का रास्ता चुना है। अपनी अभिव्यक्ति में वह समाज की पीड़ा उकेर रहा है। इसलिए वह ज्यादा प्रामाणिक हैं।"[1] लेकिन इस बात को भी खारिज़ नहीं किया जा सकता है कि गैरदलित लेखकों को उस समाज की पीड़ा दिखती ही नहीं या वे उसे अनुभूत नहीं कर सकते। इस संबंध में आलोचक मैनेजर पाण्डेय का मत है कि सहृदयता, करुणा और सहानुभूति के सहारे गैर दलित लेखक दलितों के बारे में अच्छा साहित्य लिख सकते हैं, और लिखा भी है। लेकिन सच्चा दलित साहित्य वही है, जो दलितों द्वारा अपने बारे में लिखा जाता है, क्योंकि ऐसा साहित्य सहानुभूति से नहीं बल्कि स्वानुभूति से उपजा होता है...राख ही जानती है, जलने का दर्द, दलित होने की पीड़ा सिर्फ दलित जानते हैं। स्पष्ट है कि ब्राह्मणवादी सामन्ती समाज के नश्तर जिसने अपने त्वचा पर सहे है वही इस दर्द को बयाँ कर सकता है। समाज के सबसे निचले पायदान पर स्थित इस समाज की पीड़ा को वही लोग अनुभूत कर पाएंगे जो उसके स्वयं भुक्तभोगी हैं क्योंकि यह सवर्णवादी समाज अपनी श्रेष्ठता ग्रंथी से बाहर निकल ही नहीं पाए है। अपनी श्रेष्ठता ग्रंथी के कारण ही वे किसी दलित या निम्न जाति के प्रगति को सहन नहीं कर सकते। आज भी समाज में ऐसी घटनाएं देखने को मिल जाती है।

दूधनाथ सिंह की कृति 'निष्कासन' समकालीन समय में समाज की इन्हीं मूल समस्याओं का कच्चा चिट्ठा प्रस्तुत करने वाली एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। हिंदी कथा साहित्य में यह कृति अपना विशिष्ट स्थान रखती है। अपने उपन्यासों में उन्होंने उन समस्याओं को दिखाने का प्रयास किया है जो भारतीय मानस को अब भी जकड़े हुए हैं। वे समाज के सूक्ष्म से सूक्ष्म मुद्दों पर बड़े ही बेबाकी के साथ अपनी बात को रखते हैं। यद्यपि दूधनाथ सिंह जन्म से दलित न थे तथापि इस उपन्यास में जिस दलित लड़की की पीड़ा या आत्मसंघर्ष को जितनी संजीदगी से उन्होंने व्यक्त किया हैं शायद ही कोई अन्य कथाकार इस प्रकार अभिव्यक्त कर पाएं हो। इस कथा के आरम्भ में ही वे इस लड़की से माफी मांगते हुए लिखते हैं- "उस लड़की से क्षमा-याचना सहित- जिसकी यह कहानी है।"[2] कहीं न कहीं उनके मन

[1] दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र, पृष्ठ- 40

[2] निष्कासन, पृष्ठ- 11

में एक टीस रही होगी जिसने उनको उस लड़की की संघर्ष की कथा लिखने के लिए विवश कर दिया होगा। इस उपन्यास की कथा-वस्तु काल्पनिक नहीं लगती क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह यह वाक्य न लिखें होते। संभवतः उस लड़की के साथ हुए अन्याय को देखकर इनके अंतःमन में पीड़ा उत्पन्न हुई होगी जिसकी अभिव्यक्ति इस उपन्यास के माध्यम से उन्होंने की हो। तभी तो वे इस उपन्यास के आरम्भ में ही प्रेमचंद की एक मार्मिक पंक्ति को उद्धृत करते हैं- "...जो कुछ असुन्दर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके लिए (साहित्यकार के लिए) असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है।...जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है- चाहे वह व्यक्ति हो या समूह- उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फ़र्ज़ है।"[1] ऐसे में यह माना जा सकता है कि कोई गैर दलित लेखक भी सहृदयता, करुणा और सहानुभूति के बल पर दलित साहित्य लिख सकता है, उसकी समस्याओं को अपनी कथा के माध्यम से समाज को रु-ब-रु करवा सकता है।

ऐसा माना जाता है कि मानव ने अपनी सभ्यता विकसित कर ली है। अपने मस्तिष्क का विकास करते-करते ब्रह्मांड का शायद ही कोई कोना हो जहाँ वह न पहुँच सका हो लेकिन विचारों से आज भी वह संवेदहीन, जड़ व शून्य ही है। भले ही यह समाज गर्व करें कि उसने प्रगतिशीलता की अंतिम बिन्दु को छू लिया है लेकिन आज भी उनके विचारों की वह प्रगतिशीलता भीतर से खोखली ही दिखती है। आजादी के इतने वर्षों बाद भी वर्तमान भारतीय समाज उन समस्याओं से कराह रहा है जो आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व विद्यमान थी। 'निष्कासन' उपन्यास में समाज की उन्हीं समस्याओं में से एक दलित वर्ग की समस्या को दिखाया गया है। यह उपन्यास 'खटिक' समुदाय से आने वाली उस छात्रा की कथा है, जिसे तथाकथित यह सवर्णवादी मानसिकता से ग्रस्त समाज उसे उसके नाम से पुकारना मुनासिब नहीं समझता है। दलितों को यह सवर्णवादी समाज 'बें' या जातिसूचक शब्द से पुकारने में अपनी श्रेष्ठता समझता हैं। इस उपन्यास में भी लड़की को उसके कमरे के नम्बर से पुकारा जाता है। भारतीय समाज में इसी सवर्णवादी मानसिकता से ग्रस्त लोगों के लिए दलित समुदाय मानों एक गाली का पर्याय है।

[1] निष्कासन, पृष्ठ-5

उपन्यास में इस बात का जिक्र है जब वह छात्रा सवर्ण मैम का विरोध करती है तो मैम के भीतर की यह मानसिकता उभर कर सामने आ ही जाती है। उपन्यास में मैडम जो ब्राह्मणवादी समाज से आती है, कहती है कि- "खटकिन साली…खौरही कुतिया, हरामज़ादी…तुझे जवानी चढ़ी है? मैं तुझे देखती हूँ। मैम के मुँह से जैसे भल्-भल्-भल् उल्टियाँ हो रही थीं।"[1]

भारत को आजाद हुए पचहत्तर वर्ष होने जा रहे हैं। संविधान के आधार पर पिछड़े वर्ग के समुदायों को आर्थिक और सामाजिक रूप से समान अवसर देने की बात कही जाती है, लेकिन क्या आज इन पचहत्तर वर्षों में भी स्थिति सुधरी है? क्या जो इस आर्थिक और सामाजिक समानता के वास्तविक हकदार है उन्हें क्या यह हक मिला है? और आर्थिक स्तर पर भले ही कुछ लोगों को यह हक मिला हो लेकिन समाज ने उनकी सामाजिकता को कितना स्वीकार किया है? यह उपन्यास इन बिंदुओं की ओर भी हमारी दृष्टि आकर्षित करता है। उपन्यास में उस प्रदेश के महामहिम का जिक्र है जो स्वयं दलित वर्ग से आते हैं। उनके प्रति भी समाज की क्या मानसिकता है? दूधनाथ सिंह ने बेबाकी से इस यथार्थ को दिखाने का प्रयास किया है। उपन्यास में एक पात्र के माध्यम से मानो लेखक स्वयं हमसे यह प्रश्न कर रहे हैं- "जिस शहर में एक दलित न्यायमूर्ति के तबादले पर उसकी कुर्सी और चैम्बर को गंगा-जल से धुलवाया जाता हो, उसे महान और ऐतिहासिक नगर कहते हैं आप? और मेरे ही सामने? क्या यह झूठ है? हुआ कि नहीं यह? महान ऐतिहासिक! पवित्र ऋषियों की तपोभूमि! हवन-कुंड...चर्खा! ये पैदा हुए, वो पैदा हुए! किसलिए पैदा हुए? इसी दिन के लिए? शर्म आनी चाहिए आप लोगों को! परम्परा, इतिहास और संस्कार! आहुति में झोक देने का संस्कार?"[2] उपन्यास में स्पष्ट रूप से भारतीय समाज में दलितों के प्रति सवर्णवादी समाज की रुग्ण मानसिकता का खुला चित्रण हुआ है। दूधनाथ सिंह यह स्पष्ट दिखाते हैं कि किस प्रकार सामंतवादी विचारधारा से ग्रस्त लोग समाज के इस अभिन्न वर्ग को हाशिए पर रख अपने फायदे के लिए उपयोग करते हैं। समाज की इसी मानसिकता को व्यक्त

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 47
[2] वही, पृष्ठ- 112

करता हुआ उपन्यास का एक पात्र कहता है कि- "इस उर्वर प्रदेश में आपको इसलिए भेजा गया है कि हमारे वोट बैंक में जमा पूंजी तेजी से बढ़े। इसलिए कि आप आए तो दलितों में यह संदेश जाएगा कि हम खाली सवर्णों के नेता नहीं हैं। और कहां है? है क्या? आपका आना इसलिए हुआ कि देखो, हमारे विचारों में, हमारी राजनीति में कितनी तब्दीली आई है! हमारी नज़र में देश का हर आदमी बराबर है। सब को सम् पर लाना ही तो साम्राज्य है। तो इस पहलकदमी में हमारा साथ दीजिए आप। यह नहीं कि आते ही एक नया शिगूफ़ा खड़ा कर दो, एक दलित एजेंडा हवा में उछाल दो।"[1] स्पष्ट है कि दलित वर्ग के लिए समानता की बात करने वाला यह भारतीय समाज उन्हें एक राजनीतिक एजेंडा के रूप में देखता है न कि समाज में कदम से कदम मिलाकर चलने वाले इंसान के रूप में।

दलित समुदाय हमारे समाज का एक अभिन्न हिस्सा है। उस पर सदियों से जुल्म ढ़ाए जा रहे हैं। कहा जाता है कि एक जमाने में वेद का मंत्र सुन लेने पर उनके कानों में सीसा पिघला कर डाल दिया जाता था और आज वर्तमान समय में भी उनकी स्थिति में कोई विशेष सुधार देखने को नहीं मिलती है। यदि कोई निम्न तबके के लोग आगे बढ़ने के लिए अपने पांव बढ़ाते हैं तो यह सवर्णवादी समाज उसके पैरों को जातिवाद की जंजीरों से जकड़ लेने को तत्पर हो उठता है। दूधनाथ 'निष्कासन' उपन्यास में समाज की इस मानसिकता की ओर भी इंगित करते हैं। जहां एक निम्न तबके की पढ़ाई में अव्वल छात्रा को उसकी जाति की वजह से सवर्णवादी मैम, उस कॉलेज से निष्कासित करवा कर आत्महत्या करने पर मजबूर कर देती है। इस संबंध में रमणिका गुप्ता लिखती हैं- "दुर्भाग्यवश हमारे देश की सामाजिक व्यवस्था ने देश की जनता के एक बड़े हिस्से को शिक्षा से इस लिए वंचित रखा ताकि वह अभिव्यक्ति की ताकत हासिल न कर सके- अपनी पहचान न बना सके और न ही आत्मसम्मान और स्वाभिमान की कभी सोच सके। वह सदा हीन भावना से ग्रसित हो, समाज के एक छोटे तबके की दया पर आश्रित रहे और परजीवी बना रहे।"[2] मसलन इस उपन्यास में भी हम देख सकते हैं, महामहिम का अपने प्रमुख

---

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 70

[2] दलित हस्तक्षेप, पृष्ठ- 131

सचिव को कहा हुआ यह कथन दलित समुदाय के शोषण का यथार्थ दृश्य को बयाँ कर देता है- "मान लीजिये आपकी बेटी है तब? मुफ़्ती की बेटी थी तब? तब तो सारा प्रशासन सिर के बल खड़ा हो गया था! अपहरण और आपूर्ती में ज्यादा फ़र्क नहीं है पंडित जी! दोनों में अनिच्छित शोषण है। दोनों में हिंसा है। जबर्दस्त शारीरिक और मानसिक अपमान है। दोनों में बल-प्रयोग है, सिर्फ़ उसके तरीके में अन्तर है। दोनों में फिरौती है। एक में प्रत्यक्ष, दूसरे में परोक्ष। आप क्या समझते हैं, जो देवी जी वहाँ प्रतिष्ठित पद पर आसीन हैं इस कुकर्म में लिप्त हैं, उनका कोई निहित स्वार्थ नहीं होगा? सिर्फ़ एक घिनौने मज़े के लिए, वे वैसा करती होंगी?...लेकिन नहीं, किसी खटिक की बेटी होने का क्या मतलब? उसे नरक में डालो और हँसो। या उसे आपकी तरह अन्य मामलों के घूरे पर डाल कर रफ़ा-दफ़ा कर दो।"[1] विडंबना की बात यह है कि उक्त वाक्य कहने वाले महामहिम जो स्वयं दलित समुदाय से आते हैं, वे भी उस छात्रा को न्याय नहीं दिला पाते हैं। वे खुद दलितों के साथ होने वाली राजनीति में फँसकर रह जाते है। वजह यह है कि वे संघ के काडर से आते हैं और संघ ब्राह्मणवाद का पोषक है। कुलपति जी का यह कहना कि यह सब तो कम्युनिस्टों के उकसावे से हो रहा है और लड़की तो बस एक मोहरा है, महामहिम इस बात को आराम से मान लेते हैं और फ़ाइल को बिना देखे ही चले जाते हैं जो उनका अपने समुदाय के प्रति उदासीन भाव को दिखाता है।

दूधनाथ सिंह लम्बे समय तक विश्वविद्यालय से जुड़े रहें। समाज में फैली जातिगत भेदभाव किस प्रकार विश्वविद्यालय में पहुँच रही थी, इसको वे अच्छी तरह से समझ और अनुभूत कर रहे थे। विश्वविद्यालय परिसर में किस प्रकार सवर्णवादी मानसिकता वाले लोग अपना प्रभुत्व बनाए हुए हैं इसका यथार्थ वर्णन इस उपन्यास में मिलता है। इस उपन्यास में वर्णित अधिकतर पात्र सवर्णवादी मानसिकता से ग्रस्त हैं चाहे वह छात्रावास की अधीक्षिका मैडम महिष्मति सिंह हो, कुलपति हो, कोई प्रोफ़ेसर हो या छात्रावास की अन्य लड़कियाँ हों। जिस प्रकार समाज में इनको मुख्यधारा से अलग-थलग कर दिया जाता है, उनको खास किसी एक प्रकार की गंदी बस्तियों में रहने के लिए विवश किया

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 72

जाता है, उसी प्रकार विश्वविद्यालयों में भी इनके साथ वही व्यवहार किया जाता है। उपन्यास में भी हम देख सकते हैं जब लड़की अपने बहनों के साथ उसके कमरे में जाती है तो अन्य लड़कियों की प्रतिक्रिया कैसी होती है!- "चिपकने वाली लड़कियों में से ज्यादातर ने मुँह बनाया। वे सभी महिमामंडित सवर्ण घरों से आती हैं और गप्प के दौरान अक्सर हमारा ख़ान्दान, हमारा ख़ान्दान बोलती हैं। उन्होंने मुँह बनाया और दोनों बहनों को ऊपर से नीचे तक देखा भी। कुछ ने नाक-भौं सिकोड़ी। कुछ ने रूमाल या दुपट्टा या तौलिया उठा कर नाक पर यों लगाया जैसे मुँह पोंछने जा रही हों। दोनों बहनें इस कमरे से उस कमरें भटकती रहीं। फिर वे उन कमरों की ओर गयीं जिनमें उन्हीं की बिरादरी रहती थी। एक किनारे पर जिधर संडास पड़ता था, उधर तीन-चार कमरे थे।"[1] इसके साथ ही यदि उन्हें उनके बीच में कमरा मिल जाए तो इन पर आफत आ जाती है, तरह-तरह से इनको को परेशान किया जाता है। जैसा कि कुछ लड़कियाँ कहती हैं- "और कड़ू तेल की बू। उस ब्लॉक में जाओ तो संडास की बदबू बाद में आती है, इनकी पहले। अजीब बास मारती हैं यार, और सबकी-सब। मैत्रेयी कहती है कि ये जो सुखंडी का कमरा बीच में है, दोनों ओर के कमरों की लड़कियाँ परेशान हैं। और अगर उसका दरवाज़ा खुला हो, जो कि अक्सर रहता है, तो उधर से बरामदे में गुजरना मुश्किल। भकसौंध आती है।...ये बीच में कमरा देने का क्या मतलब? किनारे करो।"[2] इस प्रकार की घटनाएं आज भी हमारे समाज में दिखती रहती हैं। वास्तव में विश्वविद्यालय में यह दृश्य मात्र परिसर को ही नहीं हमारे समाज के यथार्थ को प्रतिबिंबित करता है। उनको उनके बीच में कमरा कैसा मिला? यह भी समाज की एक अलग विसंगति को ही दर्शाता है कि कोई दलित समुदाय का कोई व्यक्ति, सवर्णों के बीच कैसे रह सकता है?

जातिवाद भारतीय समाज के लिए कोढ़ है। इसने जिस स्थान में ज्ञान की अविरल धारा बहनी चाहिए उस स्थान को भी अपने गिरफ्त में ले लिया है। यद्यपि दलितों के पास संविधान प्रदत्त अभिव्यक्ति का, समाज में समानता के साथ रहने का अधिकार है, पर शिक्षा के अभाव के कारण ये समुदाय अपने

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 14

[2] वही, पृष्ठ- 19

अधिकारों से वंचित रह जाते हैं या यह कहें कि यह सवर्णवादी समाज इनको शिक्षा से इसलिए वंचित रखने का प्रयास करता है ताकि ये अपने अधिकारों के प्रति जागरूक न हों और उनकी गुलामी करते रहें। इनमें से कुछ लोग आगे बढ़ते भी हैं तो यह समाज उसे कुचलने के लिए एकजुट हो जाता है जैसा कि लड़की के साथ होता है। उसकी बड़ी बहन भी उस यातना को झेल चुकी है, तभी वह अपनी बहन को हिदायत देती हुई कहती है कि- "हॉस्टल में किसी की बात पर कान मत देना। और मैम से शिकायत मत करना। कुछ सुनाई भी पड़ जाय तो पी जाना। हमारे बारे में अपमान जनक बातें होती ही रहती हैं। और क्लॉस में भी। अपना काम करना है, चुपचाप।"[1]

समाज में दलितों को हेय की दृष्टि से देखा जाता है, मानो वह कोई इंसान न होकर पशु हैं। और यदि वह दलित स्त्री हो तो उसकी स्थिति और भी दर्दनाक हो जाती है। वर्ग-विभाजित इस समाज में कोई कितना भी घटिया से घटिया ब्राह्मण हो, वह ब्राह्मण है तो पहले ब्राह्मण है और कोई कितना भी ज्ञानी क्यूँ न हो वह यदि शूद्र है तो पहले शूद्र है। यह सवर्णवादी समाज कभी भी उसके ज्ञान को महत्व न देकर उसकी जाति को महत्व देता है। लेखक ने समाज की इस घटिया मानसिकता को बड़े ही बेबाकी के साथ दिखाया है। कक्षा में छात्र और शिक्षक के संवाद के माध्यम से लेखक ने इस सवर्णवादी मानसिकता वाले समाज की घटिया मानसिकता का चित्रण किया है-

"सर, आप डि-क्लॉस हो सकते हैं, डि-कास्ट नहीं हो सकते, इस समाज में। लड़का बोला।

हे...हे। लड़कों ने अनायास ताली बजायी।

और अगर हों तो? सर जी ने पूछा।

तो आप एक अवसरवादी ढ़ोंग फैलायेंगे। यहाँ जो बड़े-बड़े डि-क्लास मार्क्सवादी हैं, वो भी अगर ब्राह्मण हैं तो पहले ब्राह्मण हैं और अगर शूद्र हैं तो पहले शूद्र हैं। और सभी पार्टियों का यही हाल है।"[2] इसके साथ लेखक ने दिखाया है कि किस प्रकार उस लड़के ने ब्राह्मण कहा तो किसी भी ब्राह्मण लड़की को

---

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 23

[2] वही, पृष्ठ- 28

नहीं घूरा लेकिन जब शूद्र कहा तो उस लड़की को घूरते हुए कहा।- "जिस लड़के ने डि-क्लास और डि-कास्ट वाली बात उठायी थी, उसने ब्राह्मण कहा तो किसी ब्राह्मण लड़की तरफ़ नहीं देखा, लेकिन जब शूद्र कहा तो लड़की को घूरते हुए कहा। उसकी आँखों में कुछ अजीब-सा था। वहशत या उपहास या नफ़रत या फ़्लर्टेशन, फ़र्क करना मुश्किल था। उसकी बात में जो एक लाचार किस्म की भरपूर सच्चाई थी, वह उसके घूरने से कम हो गयी।"[1] विडम्बना है कि जिस स्थान पर समानता की बात सिखायी व पढ़ाई जाती हो वहाँ इस तरह की घटना का प्रायः दिख जाना उस शिक्षा व्यवस्था और शिक्षण संस्थान पर ही सवाल खड़े कर देता है।

लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से यह स्पष्ट सवाल उठाया है कि जब किसी शिक्षण संस्थान को ही चकलाघर में तबदील कर दिया जाए और वहाँ के शिक्षक ही उसके ठेकेदार हो, तो उस शिक्षण संस्थान की अवस्था कैसी होगी? इस उपन्यास में उस शिक्षण संस्थान के ठेकेदार समाज के वे सवर्णवादी लोग हैं जो अपने आप को समाज में सबसे श्रेष्ठ मानते रहे हैं। वही इस कुकृत्य में लिप्त हैं और छात्रावास की दलित लड़कियों को जबरन इस कुकृत्य में शामिल करना चाहते हैं। अब तक किसी ने इन ठेकेदारों के खिलाफ आवाज नहीं उठाई थी इसलिए यह धंधा आराम से चल रहा था लेकिन जैसे ही उस लड़की ने इनका विरोध किया वैसे ही सारे मिलकर उसको कुचलने को तत्पर हो जाते हैं। लड़की के विरोध करने पर किस प्रकार मैडम उसको बेतहाशा मारती है, इसका बड़ा ही मार्मिक वर्णन करते हुए लेखक कहता हैं- "मैम ने साड़ी फेंकी और अपनी दोनों मुट्ठियाँ बन्द करके बेतहाशा लड़की की छातियों को मुकियाने लगी। लड़की ने डर के मारे एक हाथ से पेटिकोट का नाड़ा पकड़ा हुआ था और दूसरे से अपने वक्ष को बचाने में लगी थी।"[2] इस घटना के बाद लड़की बहुत ही भयभीत हो जाती है जिसका वर्णन इन शब्दों में किया गया हैं- "मैं लगभग घेर ली गयी, चाहे कपड़े चेन्ज करने हों या कुछ और। हम-तुम इन बातों का कितना मज़ाक बनाते थे लेकिन अब पता चला कि वे बातें सिर्फ़ अफ़वाहें नहीं थीं। क्योंकि

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 28

[2] वही, पृष्ठ- 47

हम लोग अधिकांश लड़कियों द्वारा नीच समझे जाते हैं, इसलिए बातें हम तक सिर्फ़ उड़ती हुई पहुँचती थीं। लेकिन आज उन्होंने मुझे फँसाना चाहा। मेरे इनकार करने पर उन्होंने थप्पड़ मारा।"[1] लड़की के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस छात्रावास में कैसे यह सवर्णवादी समाज दलित लड़कियों को लक्ष्य कर इस कुकृत्य में ढ़केलता रहा है। लेखक ने यह स्पष्ट दिखाया है कि कैसे कोई दलित स्त्री अपने प्रवेश से लेकर यौन शोषण तक वह इन सामाजिक भेड़ियों और भड़वे के निशाने पर रहती हैं। और उसका विरोध करने पर किस प्रकार सब मिलकर उसे प्रताड़ित करने लगते हैं, इसका भी यथार्थ वर्णन लेखक ने किया है।

गौरतलब हो कि यौन शोषण के मामले में हमारे समाज के चौकीदारों का रवैया भी निराशाजनक ही है। यौन शोषण के मामले में पुलिस भी अपराध दर्ज करने में टाल मटोल की नीति आपनाने लगती है। मनोज पांडे जब ढ़ाबे पर खाने जाता है तो वहाँ एक सिपाही से इस मामले में बात करने की कोशिश करता है। मनोज द्वारा पूछे गये प्रश्न का जो उत्तर सिपाही देता है वह आज के वर्तमान समय के पुलिस तंत्र का सजीव चित्र प्रस्तुत कर देता है। मनोज और सिपाही के संवाद इस प्रकार हैं-

"'आपसे एक बात पूछनी है।' मनोज ने मुस्कुरा कर कहा।

सिपाही ने उसे फिर भर- नज़र देखा।

'अगर किसी लड़की के साथ दुर्व्यवहार हो तो उसके लिए पुलिस में क्या करना चाहिए?'

'दुर्व्यवहार हो गया?' सिपाही ने उसे घूरा।

'नहीं।' मनोज ने कहा।

'तो दुर्व्यवहार हो जाने दो।' सिपाही ने अकड़ के लहज़े में कहा।"[2] सिपाही का यह कथन कि दुर्व्यवहार हो जाने दो स्वतंत्र भारत के पुलिस तंत्र की पोल खोल कर रख देता है। इसके साथ ही यदि शोषित कोई दलित स्त्री हो और थाने का इंचार्ज कोई ब्राह्मण हो तब तो पुलिस तंत्र के कान पर जूँ तक नहीं रेंगती

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 52
[2] वही, पृष्ठ- 60

इसके विपरीत सभी मिलकर अपराधी को ही बचाने में लग जाते हैं। मसलन उत्तरप्रदेश के हाथरस घटना को ही ले लें जिसमें पुलिस का रवैया शोषित और उसके परिवार के प्रति बिल्कुल ही नकारात्मक देखने को मिला था। यह केवल घटना की ही बात नहीं है बल्कि अधिकतर मामलों में पुलिस का रवैया नकारात्मक होता है। इस उपन्यास में भी यह डर कॉमरेड अश्विनी पासवान को लगता हैः "लड़की को लेकर जाने पर पुलिस कौन-सा रूख़ अपनायेगी, यह कहना कठिन है। कॉमरेड अश्विनी पासवान ने कहा कि थाना-इंचार्ज एक ख़ब्ती ब्राह्मण है और उसकी चली तो हरिजनों और इन सारे लोगों को बंगाल की खाड़ी में फेंक दे।"[1]

दूधनाथ सिंह ने दलितों के मुद्दे पर मीडिया की भूमिका पर भी सवाल खड़े किए हैं। मीडिया जिसे देश का चौथा स्तम्भ माना जाता है। जिसने अपनी आजादी के लिए न जाने कितने संघर्ष किए, वर्तमान समय में इनकी भूमिका भी संदेह के घेरे में है। वर्तमान समय में मीडिया सत्ता के साथ मिलकर उनकी वाहवाही करने में ही लगा हुआ है। सत्य को दिखाने वाला मीडिया आज केवल और केवल प्रचार का माध्यम बन गया है। आज के समय में मीडिया सामाजिक मुद्दे में रूचि नहीं लेता और लेता भी है तो अपना हित देखते हुए अपराधी के साथ सांठ-गांठ कर लेता है। इस उपन्यास में भी मीडिया की इसी प्रकार की भूमिका देखने को मिलती है। अख़बार में भी लड़की के प्रति यौन शोषण के मुद्दे को मैम और कुलपति के प्रति रिश्तों को देखकर लिखा जाता है। लेखक दूधनाथ सिंह लिखते हैं- "दूसरे दिन अख़बारों के कोनों-अँतरों में दबी एक छोटी-सी ख़बर थी। अख़बार वालों ने माननीय कुलपति और माननीय अधीक्षिका से अपने 'रिश्तों' के आधार पर ख़बर 'बनायी' थी। किसी अख़बार में विस्तृत रपट नहीं थी। किसी भी अख़बार में बतौर शीर्षक 'दलित छात्रा का उत्पीड़न की कोशिश' नहीं टँका था। शीर्षक था 'जाँच-समिति का गठन।' होगी कोई जाँच-समिति। हजारों जाँच-समितियाँ रोज़ बनती रहती हैं। कोई भी हादसा हो, एक जाँच समिति बैठा दो और निश्चिंत हो जाओ। कौन पढ़ता है, कोने में छिपी इस ख़बर को? खाये-पीये, धुपाये बूढ़े या ढ़ाबों पर बैठे, चाय की चुस्की का इंतज़ार करते निःसंग

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 58

बैठकबाज़। इन दोनों की प्रतिक्रिया होगी- शून्य। या अधिक से अधिक एक बूढ़ा सुबह टहलते हुए, किसी दूसरे बूढ़े से कहेगा, 'देखिये साहब, कैसा ज़माना आ गया है!'"[1]

इसके साथ ही लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि समाज में अपने को प्रगतिशील मानने वाले मनोज पांडे जैसे लोग विवाह के मामले में अपनी जाति को छोड़ नहीं पाते हैं। उपन्यास में लेखक ने दिखाया है कि लड़की को अपनी जाति की वजह से निराशा ही हाथ लगती है तो वह मनोज पांडे से विवाह का प्रस्ताव रखती है, लेकिन यहाँ भी उसे अपनी जाति के कारण निराशा ही हाथ लगती है। दरअसल लेखक का उद्देश्य लड़की की निराशा को दिखाना नहीं बल्कि मनोज पांडे जैसे प्रगतिशील लोगों के दोहरे चरित्र को दिखाना है जो अपनी जाति, परंपरा और परिवार का बहाना बनाकर विवाह करने से मना कर देता है। लेखक ने लड़की और मनोज पांडे के संवाद के माध्यम से इस विसंगति को दिखाने का प्रयास किया है-

"मनोज ने बेबसी से लड़की को देखा।

'देखो…मुझे इस तरह से मत देखो, और सुनो।' लड़की ने कहा।

मनोज वैसे ही देखता रहा।

'मैं थक चुकी हूँ, मुझसे अब और नहीं होगा। सुन रहे हो कि नहीं?' लड़की बोली।

'सुन रहा हूँ।' मनोज ने नीचे देखते हुए कहा।

'मैं तुम्हारी दोस्त बनकर नहीं रहना चाहती, इसमें बड़े घपले हैं।' लड़की ने कहा।

मनोज ने जैसे दहशत में लड़की को देखा।

'मैं तुमसे ब्याह करना चाहती हूँ और सब कुछ से भाग जाना चाहती हूँ।'

मनोज अपनी उँगलियों से घास को कुरेदने लगा।

'बोलो साफ़-साफ़।' लड़की ने कहा।

'क्या बोलूँ?' मनोज ने कहा।

---

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 76

'जो तुम्हारे मन में हो।'

'इस तरह से कभी सोचा नहीं।'

'सोचकर देखो।'

'मेरे पिता जी बूढ़े और पुराने ख़यालात के हैं। उन्हें मुझसे न जाने क्या-क्या आशाएं हैं।' मनोज ने लड़की को यों देखा, जैसे कह रहा हो, सब कुछ समझती तो हो।

'तुम पिता जी से बात कर सकते हो।' लड़की ने कहा।

'नहीं कर सकता।' मनोज ने सिर नीचा किये-किये कहा।

'अगर मैं छवि चतुर्वेदी होती?' लड़की ने कहा।

मनोज ने सिर्फ उसे देखा।

'ठीक है, जाने दो।' लड़की उठ खड़ी हुई।

'मुझे समझने की कोशिश करो।' मनोज भी उठा।

'चलते हैं स्टेशन।' लड़की मुस्कुरायी।"[1]

लड़की और मनोज पांडे के बीच हुआ यह संवाद महज सवांद नहीं है, बल्कि समाज के क्रूर यथार्थ को दर्शाता है। यद्यपि मनोज लड़की के साथ उसके हर संघर्ष में साथ रहता है, लेकिन विवाह के मामले में वह भी पीछे हट जाता है, जो उसके मन में छिपी हुई जातिगत भावना को उजागर कर देता है। चारों तरफ से हताश, निराश, परेशान लड़की का मुस्कुराना उस ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर एक व्यंग्य है।

लेखक दूधनाथ सिंह लड़की के संघर्ष के माध्यम से यह दिखाते हैं, वर्तमान समय में दलितों के प्रति समाज का रवैया कैसा भी हो लेकिन दलित अब अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो रहा है। वह अपने अधिकारों की रक्षा के लिए किसी भी हद तक पहुँच सकता है। तभी तो लड़की मैम के इस अन्याय के खिलाफ महामहिम से लेकर उच्च न्यायलय के दरवाजों तक को खटखटाती है। यह बहुत दुर्भाग्य की बात है कि उनके अधिकारों की बात करने वाला न्यायालय भी उसके साथ न्याय नहीं करता। फिर

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 122

भी जहाँ तक उसकी क्षमता है, वह लड़ती है। तभी तो उसके न्याय के लिए बनायी गयी दो समितियों में अपराधी मैम का नाम देखकर वह विरोध कर देती है और साहस के साथ कहती है कि- ‘‘जाँच-कमेटी से अधीक्षिका यानी मैम को हटाया जाय। जब वह खुद जाँच-कमेटी के घेरे में हैं तो जाँच-समिति की सदस्य की हैसियत से कैसे बैठ सकती हैं? जो कठघरे में है, वही न्याय की कुर्सी पर भी बैठेगा? क्या आत्मालोचन करने के लिए या गांधियन हृदय-परिवर्तन के लिए? तब तो सभी निर्णय गैरकानूनी हो जायेंगे। ऐसे हालात में मुझे न्याय कैसे मिल सकता है?’’[1] लड़की बिल्कुल ही वाजिब प्रश्न करती है कि अपराधी ही जब जाँच के घेरे में हो तो वह समिति की सदस्य कैसे हो सकती है? इस स्थिति में उसे न्याय कैसे मिल सकता है? वर्तमान समय में भी हम देखें तो बहुत कम ही मामलों में पीड़ित या पीड़िता को न्याय मिल पाता है। अधिकतर मामलों में तो यह व्यवस्था अपराधी के साथ ही खड़ी दिखायी देती है। यद्यपि डॉ छागला जो अनुसूचित जाति-जनजाति आयोग के चेयरमैन थे और इस सवर्णवादी समाज के विरूद्ध आवाज उठाने की कोशिश भी करते हैं, लेकिन इस व्यवस्था के आगे उनकी बोलती बंद हो जाती है। डॉ छागला कुलपति के प्रतिनिधि प्रो. त्रिपाठी से कहते हैं कि- ‘‘यानी आप जाँच-कमेटी के चेयरमैन भी हैं, कुलपति के प्रतिनिधि भी और ब्राह्मण भी, आयोग के चेयरमैन की आवाज़ एकाएक ऊँची हो गयी, ‘और यह रिपोर्ट है या फ़ैसला? आप न्यायपालिका हैं क्या? आप माननीय न्यायमूर्ति हैं? ये सिफ़ारिशें हैं या दमन के दस्तावेज? आपके अल्फ़ाज जो हैं, और जो लिखने का ढ़ंग है, वो क्या ज़ाहिर करता है? कौन हैं वह मैडम? उन्हें नोटिस भेजता हूँ कि चाहे पैर भारी हों या सिर, आयोग के सामने हाज़िर हों। ये हीला-हवाली नहीं चलेगी। हॉस्टल है कि जेलखाना? कि धन्धे-कमाई की जगह? और ये क्या है? चेयरमैन ने पैंसठ अवैध लड़कियों की सूची हवी में फहरायी, दलित लड़की हो तो धन्धा करवाने की कोशिश करेंगे, घूस माँगेंगे और न हो पैसा तो कहेंगे, ‘उसके बदले कुछ और दो।’ आप सवर्ण लोग हैं, बुद्धिजीवी हैं- आप लोगों के पास सब कुछ है, फिर भी ‘कुछ और दो’ की आदत नहीं गयी? पहले निश्चिन्त ज़बर्दस्ती थी, अब वही काम उत्पीड़न और धमकी के साथ? आपने रिपोर्ट तो दे

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 80

ही दी है, कोई बयान देना चाहते हैं, कुलपति की ओर से?"[1] डॉ. छागला का यह कथन थोड़ी देर के लिए इस व्यवस्था को परेशानी में डाल देता हैं लेकिन डॉ. छागला यह भूल जाते हैं कि वह इसी वर्चस्वशाली व्यवस्था का एक हिस्सा बन चुकें है और यह व्यवस्था उन्हें शोषित करना जानती है।

दूधनाथ सिंह दिखाते हैं कि दलित समुदाय सदियों से इस व्यवस्था की पीड़ा को सहते-सहते अभ्यस्त हो चुका है। अतः वर्तमान समय का शिक्षित दलित समुदाय इस व्यवस्था से संघर्ष करने के लिए तैयार है। तभी तो वह लड़की और उसकी बहन यूँ ही इस सवर्णवादी समाज के आगे सहज ही घुटने नहीं टेक देती हैं, बल्कि यथासंभव उस वर्चस्वशाली समाज से लोहा भी लेती है। लड़की की बहन मनोज पांडे से साहस के साथ कहती है कि- "इज्जत का सवाल है, इसीलिए तो। लेकिन इज़्ज़त के सवाल पर चुप रहना एक नारकीय चुप्पी है। एक अनैतिक चुप्पी की तरह।"[2] इसके साथ ही लेखक ने अन्यत्र भी इस बात को दिखाया है-"'आख़िर और भी रास्ते हैं', बड़ी बहन ने कहा, जांच कमीशन हैं, मानवाधिकार आयोग है, शासन है, सत्ता है, लोग हैं, अख़बार है, नियम-कानून हैं। मैं यह सब नहीं चलने दूँगी। और मैं भीख मांगने या गिड़गिड़ाने वाली नहीं। आख़िर मेरी बहन को क्यों सजा मिले? इसलिए कि... इसलिए कि? और बीवी है जो उठाने का धन्धा करती है और शौहर बोलता है कि मेरे प्रस्ताव पर सोचो।...क्योंकि बातें सिर्फ़ पैसे तक महदूद नहीं हैं अब। बातें सब खुल गयी हैं। और पैसे होंगे तब भी नहीं दूँगी अब। आधा भ्रष्टाचार और आधा सदाचार-यह नहीं चलेगा। हम जीतेंगे तो पूरी तरह और हारेंगे तो पूरी तरह-समझे।"[3]

समय परिवर्तनशील है। समय के साथ समाज में भी बदलाव अपेक्षित है। अतः समाज में धीरे-धीरे दलितों के प्रति धारणा लोगों की बदल रही है। इसका मतलब कदापि यह नहीं है कि आज भी दलितों का शोषण नहीं होता है। आज भी यह स्थिति बनी हुई है। लेकिन समाज में सभी उस मानसिकता से ग्रस्त हो यह भी संभव नहीं है। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो उनकी पीड़ा को देख द्रवित हो उठते हों।

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 111
[2] वही, पृष्ठ-54
[3] वही, पृष्ठ-66

समाज के इस रूप की ओर भी दूधनाथ सिंह संकेत करते हैं जब लड़की का उस छात्रावास में सामाजिक बहिष्कार होता है तो अन्य लड़कियाँ भी उसकी पीड़ा से द्रवित हो उठती हैं और कहती हैं- "यार किस बात की सज़ा दी गयी उसे? इसलिए कि उसके पास पैसा नहीं था, या इसलिए कि वह मैत्रेयी-ब्रांड नहीं निकली? हमारे माँ-बाप को पता चले कि हम कैसे नरक में रहते हैं, तो क्या होगा? वे तुरन्त हमें निकाल लेंगे। लेकिन ये क्या यार, सामाजिक बहिष्कार? इसलिए कि उसने रिपोर्ट की? ऊपर तक गयी? मान गयी होती तो सब कुछ ठीक था?"[1]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि दूधनाथ सिंह ने बड़ी ही संजीदगी से समाज के हाशिए पर पड़े इस तबके की समस्याओं को उठाया हैं। उपन्यास में उस दलित छात्रा के माध्यम से न केवल समाज में दलित समुदायों के प्रति लोगों की मानसिकता से वाकिफ करवाया है, बल्कि उन्हें संघर्ष और विरोध करते हुए भी दिखाया है। इसके साथ ही इस बात को भी लेखक ने बखूबी दिखाने का प्रयास किया है कि कैसे जब कोई दलित वर्ग या निम्न वर्ग सवर्णवादी मानसिकता वाले समाज को चुनौती देता है तो सभी मिलकर षड्यंत्र कर उसे पराजय कर देते हैं। जैसा कि उपन्यास में लड़की के साथ होता है। उसके निष्कासन में कुलपति से लेकर प्रोफेसर तक सबकी भूमिका होती है। जैसा कि लेखक गुरु के माध्यम से कहता हैं- "कितने कमीशन और जाँच-कमेटियाँ, आयोग और सत्ता और पुलिस और महामहिम- सब तो सने हुए हैं। अख़बारों तक बात है, यूनिवर्सिटी में हाँ-हाँ हू-हू है।"[2] मैम के कुकृत्यों के माध्यम से उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि- "चरित्रहीनता दलितों का ही 'सद्गुण' नहीं है मैडम!"[3] अतः दूधनाथ सिंह अपनी रचनाओं में समाज की इस सवर्णवादी मानसिकता का विरोध खुलकर करते हैं तथा शोषितों, दलितों की समस्याओं को स्पष्टता के साथ दिखाते हैं। उनके शब्दों में ही कहें तो- "यह

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 98

[2] वही, पृष्ठ- 95

[3] वही, पृष्ठ- 64

भारतीय ब्राह्मणवादी संस्कृति का असर है जो चुपके-चुपके वध करती है और उसके लिए एक खूबसूरत मंच और सधे अभिनेता और विचारों की धुंधली रोशनी और तार्किक कुतर्क का संसार रचती है।"[1]

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 26

3.2. स्त्री के प्रति समाज का रुख

स्त्री हमारे समाज का अभिन्न अंग है। स्त्री के बिना किसी भी समाज के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। समाज में स्त्री और पुरुष दोनों अपना विशेष स्थान रखते हैं। दोनों के समान योगदान से ही स्वस्थ और विकासशील समाज का निर्माण संभव है। लेकिन यदि हम स्त्रियों के अतीत को देखें तो पाएंगे कि उनका जीवन सदियों से ही संघर्षमय रहा है। अनंत काल से ही हमारा पितृसत्तात्मक समाज स्त्रियों को उनके अधिकारों से वंचित रखा है, उनका तरह-तरह से शोषण करता रहा है। यह पितृसत्तात्मक समाज स्त्रियों को दूसरे स्थान पर रख सदैव उसपर अपना एकाधिकार साबित करता आया है। कोई भी समाज हो चाहे वह हिंदू समाज हो, मुस्लिम समाज हो या ईसाई समाज, सभी समाजों में स्त्रियाँ सदियों से ही पुरुषों के दमन और शोषण का शिकार होती रही हैं। स्त्रियों को हमारा समाज भोग की एक वस्तु के रूप में देखता है। राजेन्द्र यादव का कथन है कि हमारे समाज में नैतिकता के सारे मानदंड स्त्री के देह से तय होते हैं। समाज स्त्री और पुरूष की नैतिकता के लिए अलग-अलग या कहे कि दोहरे मानदंड अपनाता रहा है। इस संबंध में कुसुम मेघवाल लिखती हैं- "पितृसत्ता में पुरुष की नैतिकता उसके पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, कार्यपद्धति, व्यापार और व्यवहार से तय की जाती है किंतु स्त्री की नैतिकता देह से शुरू होकर देह पर ही खत्म हो जाती है।"[1]

इतिहास इस बात का गवाह है कि सभी समाजों में नारी की ऐसी स्थिति नहीं रही है। प्राचीन काल में कुछ ऐसे भी समाजों के बारे में जानकारी मिलती है जहाँ नारी के अस्तित्व का, स्वतंत्रता का, सत्ता का सम्मान किया जाता था, वही परिवारों की मुखिया भी होती थी जो हमारे भारतीय संस्कृति की सभ्यता और आदर्श थी। इसकी ओर संकेत करती हुई कुसुम मेघवाल लिखती हैं कि- "अगर हमें भारतीय संस्कृति और सभ्यता को आदर्श बनाना है तो हमें मोहन जोदड़ो हड़प्पा कालीन सभ्यता संस्कृति की ओर अग्रसर होना होगा, जब भारत में मातृसत्तात्मक परिवार थे। नारी की स्थिति बहुत अच्छी थी। उसे सम्मानीय माना जाता था। उस समय माता के पद को बहुत ऊँचा और पवित्र समझा

[1] अम्बेडकरवादी स्त्री-चितंन, पृष्ठ सं.- 36

जाता था। माता के पद के प्रति आदर भावना थी। उसे पिता से सहस्त्र गुणा अधिक प्रतिष्ठा योग्य माना जाता था।"[1] हमारा समाज ऊपर से तो नारी की पूजा करता है, नारी को शक्ति का प्रतीक मानता है, किंतु उसपर अपना वर्चस्व बनाए रखने में भी कोई कसर नहीं छोड़ता। गर्भावस्था से ही स्त्री की हत्या कर दी जाती है। वे हमारे समाज के लिए बोझ समझी जाती है। दुनिया में सबसे अधिक स्त्री को ही शारीरिक, मानसिक, आर्थिक शोषण का सामना करना पड़ता है। जन्म लेते ही उसे अंधविश्वास की खाई में धकेल दिया जाता है। सभी कार्यों से उसे दूर रखा जाता है। युवावस्था को प्राप्त करते ही उसे हमारे समाज के द्वारा अछूत घोषित कर दिया जाता है। लड़की पढ़ लिख कर क्या करेगी, ऐसी मानसिकता बनाई जाती है! युग आज कहाँ से कहाँ तक पहुँच गया है, लेकिन लोगों की मानसिकता वैसी की वैसी बनी हुई है। अल्प आयु में विवाह का प्रचलन आज भी समाज में वर्तमान है। आज भी भारत में पति के मर जाने से स्त्री दूसरी शादी नहीं कर सकती लेकिन पुरुषों पर इस प्रकार की पाबंदी इतिहास के किसी भी पन्ने में देखने को नहीं मिलती है। स्त्रियों को इस पितृसत्तात्मक समाज ने घर की चारदिवारी में कैद कर रखा है। वे घर में ही रहेंगी, खाना बनाएंगी, पुरुष तथा परिवार के अन्य सदस्यों की कहे अनुसार मनचाही संख्या में बच्चे पैदा करेंगी, उनको पालेंगी। भारत की कितनी ही महिलाएँ ऐसी हैं, जो घर से बाहर क़दम रखकर खुली हवाओं में कब से साँस नहीं ली हैं, मन बहलाने के लिए कहीं बाहर तक नहीं जा पाई हैं।

दूधनाथ सिंह ने इस उपन्यास के माध्यम से यह भी दिखाने का प्रयास किया है कि स्त्रियों के शोषण में सिर्फ पुरुष ही भागीदार नहीं होता, इस मामले में स्त्रियों की भी भागीदार होती हैं या यों कहे कि वे स्त्रियाँ अपने आप को पितृसत्तात्मक समाज के अनुरूप ढ़ाल लेती है। आज भी भारतीय समाज में कई स्त्रियों की आवाज स्त्री अस्मिता के मामले में दबी हुई ही दिखती हैं। प्रोफेसर अमरनाथ लिखते हैं- "हमारे संविधान ने काफी हद तक औरतों को बराबरी का दर्जा दिया है, परंतु इन सबके बावजूद आज भी लगभग हर देश में स्त्रियों को न समान अधिकार मिला है और न पूरी आजादी। आज भी

[1] निष्कासन, पृष्ठ सं.- 40

लगभग हर जगह पुरुष का बोलबाला है।"[1] यह आश्चर्य की ही बात है कि वर्तमान समय में संवैधानिक अधिकारों के बावजूद कई शिक्षित महिलाएं अपने ऊपर हो रहे शोषण का विरोध नहीं करती बल्कि पुरुषों द्वारा दी जा रही यातनाओं को चुपचाप सहती रहती है। सिमोन द बउआर ने लिखा है कि- "स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि उसे बना दिया जाता है।"[2] यह कथन न केवल पाश्चात्य संदर्भ में बल्कि भारतीय संदर्भ में सटीक प्रतीत होती है। नारी को कैसा रहना है, उसको क्या पहनना चाहिए, क्या खाना चाहिए, कहाँ बोलना चाहिए, कहाँ नहीं बोलना चाहिए आदि यह सबकुछ पुरुष ही तय करता है। समाज में उसकी स्थिति दोयम दर्जे की है। आज भारत को आजाद हुए करीब सात दशक बीत चुके हैं। हम जनसामान्य के मौलिक अधिकार की बात करते हैं। देश में सभी समान अधिकार रखते हैं। किंतु स्त्रियों की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं दिखता है। अपितु दिन प्रतिदिन उसे और अधिक जर्जर अवस्थाओं से गुजरना पड़ रहा है। उसके अधिकारों का पुरुषवादी सत्ता तंत्र के द्वारा हनन के कई साक्ष्य मौजूद हैं। समाज में पुरुष प्रधान मानसिकता अब भी कायम है। महिला भी पुरुष के समान मनुष्य है, उसकी भी भावनाएँ होती हैं, जीवन जीने और हँसी खुशी बिताने का हक़ उसका भी है। वह सिर्फ चुल्हे तक सीमित नहीं रह सकती। आज भी स्त्रियाँ रात को घर से बाहर निकलने से डरती हैं। पुरुष उसे या तो शक की निगाह से देखता है या फिर वासना की। स्त्रियाँ पुरुष की तरह वह समाज में मुक्त विचरण नहीं कर सकती। उसको इन सारी बुराइयों से लड़ना होगा। उसको पढ़ना होगा। ज्ञान-विज्ञान से जोड़ना होगा। नारी के विकास के साथ समाज का विकास जुड़ा हुआ है। यह पुरुष को और नारी को भी समझना होगा। वह अबला नहीं है, सबल है, पुरुष से भी विशिष्ट है। समाज में उसका समान अधिकार है और उनको यह अधिकार मिलना चाहिए। मसलन कौशल्या बैसंत्री अपनी आत्मकथा की भूमिका के अंतिम अध्याय में लिखती हैं- "पुरुषप्रधान समाज औरतों का खुलापन बरदाश्त नहीं करता। पति तो इस ताक में रहता है कि पत्नी पर अपने पक्ष को उजागर करने के लिए, चरित्रहीनता का ठप्पा लगा दे। पुत्र, भाई, पति सब

[1] आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, पृष्ठ सं.- 386-387

[2] स्त्री उपेक्षिता, भूमिका भाग से

मुझपर नाराज हो सकते हैं, परंतु मुझे भी तो स्वतंत्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूँ। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं को हुए होंगे, परंतु वे समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने में डरती है। जीवन भर घुटन में रहती है। समाज की आँखें खोलने के लिए ऐसे अनुभव सामने आने की जरूरत है।"[1] कवि जयशंकर प्रसाद के हवाले से कहे तो-

"तुम भूल गये पुरूषत्व के मोह में कुछ सत्ता है नारी की,
समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकारी की।"[2]

आधुनिक काल में विभिन्न विमर्शों के साथ ही स्त्री विमर्श का भी अभ्युदय साहित्य की धरातल पर होता है। स्त्रियाँ अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक होती दिखाई पड़ती हैं। अस्मिता से आशय उनकी अस्मिता, उसकी पहचान से है जिसे पाने के लिए उन्हें सदियों से संघर्ष करना पड़ रहा है। सदियों से ही उन्हें हाशिए पर रखा गया है। स्त्रियाँ अपनी पहचान को लेकर सदियों से ही संघर्षशील रही हैं। मनुस्मृति में लिखा है-

"बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पणि ग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरिप्रेते न भजेत्स्त्री स्वतंत्र स्वतंत्रतामे। 5-148

अर्थात नारी बचपन में पिता के अधीन, यौवनावस्था में पति के अधीन और पति के देहावसान के बाद पुत्रों के अधीन रहे। कभी भी स्वतंत्र न रहे।"[3] वर्तमान समय की नारी मनुस्मृति की इस दकियानूसी मान्यता को खारिज कर किसी पर आश्रित नहीं रहना चाहती है। वह अपनी जिंदगी को अपने तौर तरीके से जीना चाहती है। पर संसार के प्रत्येक स्थान में नारियाँ अपनी स्वतंत्रता को लेकर आदिकाल से ही संघर्ष करती हुई दिखती है। संघर्ष ही वह जरिया है जिससे वे अपने हक़ को पा सकती हैं। संघर्ष ही समाज में नवीन राह का सृजन करता है। स्त्रियाँ इस पितृसत्तात्मक समाज की मनोवृत्ति को भाँप चुकी है। वे यह समझ चुकी हैं कि अपनी स्वतंत्रता के लिए एक लंबी लड़ाई करनी होगी तभी समाज की जकड़ी

[1] दोहरा अभिशाप, भूमिका से
[2] कामायनी, इड़ा सर्ग
[3] अम्बेडकरवादी स्त्री चिंतन, पृष्ठ- 41

मनोवृत्ति को बदला जा सकता है, उसमें प्रगति की ऊर्जा को भरा जा सकता है। अत: उसे इसके लिए कठिनतम संघर्ष करना होगा। उसने आजतक जितनी भी लड़ाइयाँ लड़ी हैं, वे कम हैं, उसे और अधिक तत्पर होना होगा। तभी वह समाज में अपने लायक एक जगह बना सकती है।

स्वतंत्रता पूर्व और स्वतंत्रता पश्चात स्त्रियों की स्थिति में काफी बदलाव देखे जा सकते हैं। स्वतंत्रता के पश्चात उसके संघर्ष का एक नया रूप देखने को मिलता है। स्त्रियाँ डटकर अपने पर हुए अन्याय, शोषण का विरोध करती हुई दिखती हैं। स्त्रियों की समस्याओं को साहित्य में स्थान आधुनिक काल में नवजागरण के फलस्वरूप मिला। लेकिन आजादी के बाद और विशेषकर संविधान लागू होने के बाद स्त्री-विमर्श का एक प्रखर रूप साहित्य में देखने को मिलता है। सातवें-आठवें दशक आते-आते साहित्य में स्त्रियों की समस्या के साथ-साथ समाज में स्त्रियों के अधिकार की मांग भी तेजी से उठती हुई दिखती हैं। इसका जिक्र करते हुए गोपाल राय लिखते हैं कि- "यह एक रोचक तथ्य है कि हिन्दी उपन्यासों का आरम्भ स्त्री-विमर्श से हुआ तथा आज़ादी पूर्व के उपन्यासों में किसानों के बाद स्त्री की समस्याओं को ही प्रमुख स्थान मिला। इसका कारण उपन्यासकारों का नवजागरण की चेतना से प्रभावित होना था। उस समय के पुरुष उपन्यासकारों ने परम्परागत नारी संहिता के चौखटे में ही स्त्री के 'उद्धार' की बात की। स्त्री के लिए उस घेरे के बाहर निकलने का कोई द्वार नहीं था। पर आजादी मिलने और विशेषकर भारतीय संविधान लागू होने के बाद भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति में जबरदस्त बदलाव आ गया।"[1] स्वतंत्रता के पश्चात स्त्रियों की अपने स्व के प्रति जागरुकता स्त्री विमर्श को एक नया आयाम देता हैं। लेकिन इस बात से कदापि इनकार नहीं किया जा सकता हैं कि आज इक्कीसवीं शती में स्त्रियों का संघर्ष समाप्त हो चुका है। स्त्रियाँ कल भी इस पितृसत्तात्मक समाज से संघर्ष कर रही थी आज भी कर रही है। स्त्री साहित्यकारों ने जहाँ खुलकर अपनी बात रख रही हैं वहीं दूसरी ओर पुरुष साहित्यकारों ने भी स्त्रियों की समस्या से समाज को रु-ब-रु करवाया है।

[1] हिन्दी उपन्यास का इतिहास, पृष्ठ- 418-419

दूधनाथ सिंह का 'निष्कासन' स्त्री के संघर्ष को बयाँ करने वाला एक बेहद ही मार्मिक और संवेदनशील उपन्यास है। अपने लघु कलेवर में यह उपन्यास समाज की तमाम विसंगतियों को दिखाते हुए स्त्रियों की समस्या को भी दिखाता है। स्त्री विशेषकर दलित स्त्री की समस्या को बड़े ही बेबाकी के साथ लेखक ने उठाया है। जैसा कि लेखक स्वयं लिखते हैं- "दिल्ली, कलकत्ता, मुम्बई की बात वहाँ के कथाकार माफ़िया जानें, जो इन दिनों इंटर-नेट पर कहानी फँसा रहे हैं। हम तो अपनी दुनिया, अपने समाज के बारे में जानते हैं, जिसका मतलब सारा देश है। इसी में से उत्पीड़न, आत्मवध, गुंडई, वेश्यावृत्ति जबड़े खोल कर खड़े हो जाते हैं। और इसी के इन्तज़ार में भेड़िये और भड़वे तके रहते हैं। ये भेड़िये और भड़वे- दोनों हमारी कहानी की मैम के दरबारी हैं और इसी मुकाम पर वह छोटी बहन फँसी हुई, अनचाहे श्रृंगार के साथ किचेन में अटपटे ढ़ंग से खड़ी है।"[1] इनके संबंध में डॉ. सरोज सिंह लिखती हैं कि- "दूधनाथ जी समकालीन विमर्शों पर यथा स्त्री एवं दलित पर भी अपनी स्पष्ट राय रखते थे तथा अपने स्त्री-पात्रों का सृजन अत्यन्त सशक्त ढंग से समसामयिक परिवेश में किया है। स्त्री के विविध रूपों के साथ परिवार एवं समाज में उसकी नियति, स्थिति एवं शोषण की प्रक्रिया को वे अपनी कहानियों में प्रस्तुत करते हैं।"[2]

विवेच्य उपन्यास इस पुरुषवादी मानसिकता वाले सवर्ण समाज को प्रश्नों के घेरे में लाकर खड़ा कर देता है। 'निष्कासन' उपन्यास शुरू से लेकर अंत तक एक दलित लड़की के संघर्ष को दिखाता है। उपन्यास में वर्णित घटनाएं स्वतंत्र भारतीय समाज के कड़वे यथार्थ को प्रतिबिंबित करती हुई दिखाती हैं। यह केवल अकेले उस उपन्यास में चित्रित लड़की की कथा नहीं है बल्कि सदियों इस वर्चस्वशाली पुरुषवादी मानसिकता से प्रताड़ित हो रही समूची स्त्रियों के आत्म संघर्ष की गाथा है। अतः प्रत्येक साहित्यकार का दायित्व है कि सदियों से शोषित स्त्रियों की समस्याओं को बेबाकी से उठाए। अतः दूधनाथ सिंह ने अत्यंत ही निर्भीकता के साथ अपने साहित्य में स्त्रियों की समस्याओं को चित्रित करते

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 22

[2] साहित्य विकल्प, पृष्ठ- 354

हैं। 'स्त्री-विमर्श' के बारे में एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा था- "वह ज्यादातर स्त्री की यौनमुक्ति का एक ऐसा आन्दोलन है जो संभव नहीं। क्योंकि स्वयं स्त्रियाँ ही बाद में इसके विरूद्ध में खड़ी हो जायेगी। इस तरह की माँग 'पीछे देखू' माँग है। दरअसल स्त्री का अपने शरीर पर अधिकार होना चाहिए, स्त्री-विमर्श की धुरी यही है। पितृसत्ता के आगे उसको झुकाना नाजायज है। वह अपने पुरुष (पति या प्रेमी) की दासी नहीं है। 'पहल उसकी ओर से होनी चाहिए।'- जैसा कि अनामिका कहती है क्योंकि किसी भी तरह की पहल शारीरिक या मानसिक अगर पुरुष की तरफ से होती है तो वह स्त्री की सत्ता पर हमला है। स्त्री स्वतंत्रता इसी रूप में स्त्री-विमर्श का पर्याय होना चाहिए।"[1]

देश को आज़ाद हुए करीब पचहत्तर वर्ष होने को है। हमारे देश में संविधान लागू हुए करीब सत्तर वर्ष बीत चुके हैं। इन वर्षों में हमारे विकासशील देश भारत ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में तमाम उपलब्धियों को अपने नाम किया है, लेकिन मानवता के मामले में हम दिन पर दिन पिछड़ते ही गए हैं। देश में दलितों और स्त्रियों के साथ हो रहे अन्याय व अत्याचार इसको प्रमाणित कर देते हैं। मानव अपने विकास के लाख दंभ भरता रहे लेकिन आज भी उसका मस्तिष्क उन तमाम रुढ़िवादी मानसिकता, अंधविश्वासों से जकड़ा हुआ है जो इसके विकास के दंभ को चकनाचूर कर देता है। आज इसी मानसिकता के कारण हमारा समाज कई हिस्सों में बिखरा हुआ दिखाई पड़ता है। आज भी हमारा समाज स्त्रियों, दलितों, आदिवासी समुदायों को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। इन्हें मुख्यधारा में शामिल करने से परहेज करता है। भारतीय पुरुषवादी समाज स्त्रियों को अपना गुलाम बना कर रखना चाहता है। सभी समाज में स्त्रियाँ इस पितृसत्तात्मक समाज के शोषण का शिकार होती है। इस संबंध में तेज सिंह 'अम्बेडकरवादी स्त्री-चिंतन' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं- "यह सही है कि बहुजन समाज के विभिन्न समुदायों के सामाजिक अनुभवों का स्तर अलग-अलग है लेकिन ब्राह्मणी पितृसत्तात्मक स्तर पर होने वाले सामाजिक अनुभवों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। सभी समुदायों की स्त्रियाँ समान रूप से ब्राह्मणी पितृसत्ता से पीड़ित और शोषित हैं। ब्राह्मणी पितृसत्ता, जाति और जेंडर पर आधारित है जबकि अन्य

[1] साहित्य विकल्प, पृष्ठ-356

समाजों की पितृसत्ता केवल जेंडर पर आधारित हैं। इसलिए भारत की ब्राह्मणी पितृसत्ता दुनिया के समाजों की पितृसत्ताओं में से सबसे अधिक विकृत और अमानवीय है। ब्राह्मणी पितृसत्ता स्त्रियों को सभी मानवीय और जनतांत्रिक अधिकारों से वंचित कर पुरुष की अधीनता स्वीकार करने के लिए मजबूर करती है।"[1] दूधनाथ सिंह इस उपन्यास में लड़की के आत्म संघर्ष के माध्यम से समूचे भारतीय स्त्रियों के विशेषकर दलित स्त्रियों के आत्म संघर्ष को दिखाने का प्रयास करते हैं।

यह उपन्यास हमारे समाज में स्त्रियों के शोषण का यथार्थ दृश्य प्रस्तुत करता है। समाज की सबसे बुनियादी जरूरत है- शिक्षा। पुरुषवादी सामाजिक सत्ता की यह कमजोरी कहे या चालाकी कि वह सदियों से ही स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखते आए हैं। उन्हें यह भय है कि स्त्रियाँ शिक्षित होकर पुरुषों की बराबरी न कर लें। उनसे तर्क-वितर्क न करने लगे क्योंकि अभी तक तो स्त्रियाँ उनकी हर बात को मानती आयी हैं। यही परिस्थिति दलितों के साथ भी है। दलित भी शिक्षित होकर सवर्णों द्वारा फैलाए गए प्रपंचों का पर्दाफाश न कर दें। इस मामले में दलित स्त्रियों की अवस्था और भी दयनीय है क्योंकि दलित स्त्रियाँ सदियों से एक ओर जहाँ स्त्री होने की पीड़ा को सहती रहती हैं वहीं दूसरी ओर दलित होने के दंश को भी झेलती रहती है। इस प्रकार इस पुरुषवादी समाज में दलित स्त्रियाँ दोहरी यातना का शिकार होती आयी है। इस संबंध में गीता सिंह लिखती हैं- "यहाँ मैं अनुभव करती हूँ कि जो लोग स्त्री-विमर्श की वकालत करते हैं उनको यह बात समझ लेना अति आवश्यक है कि स्त्री-विमर्श में से दलित स्त्री की मानसिक यातनाओं को अलग करके देखने की जरूरत है क्योंकि दलित स्त्री एक स्त्री होने की पीड़ा से पूर्व दलित होने की पीड़ा को भी जीती है, भोगती है और सहती है।"[2] बहरहाल यह पुरुषवादी समाज चाहे वह दलित हो, स्त्री हो या दलित स्त्री सभी को शिक्षा से वंचित रखना ही अपना ध्येय समझता है। तभी तो इस देश में अपने घर से दूर रहकर कोई लड़की पढ़ाई नहीं कर सकती। उपन्यासकार लिखते हैं

[1] अम्बेडकरवादी स्त्री-चिंतन, पृष्ठ- 8

[2] वही , पृष्ठ-218

-"इस शहर में बाहर रह कर बाहर से आने वाली कोई लड़की पढ़ाई नहीं कर सकती। लड़के ने हँस कर कहा कि शायद इस देश के किसी भी शहर में नहीं।"[1]

समाज में कई तरह से लड़कियों को परेशान किया जाता है। हर दिन लड़कियों को इस पुरुषवादी समाज की चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। घर से निकलते हुए रास्ते पर या विश्वविद्यालयों में हर जगह उन्हें अनेक रूपों से परेशान किया जाता है। मसलन इस उपन्यास में भी देखा जा सकता है कि विश्वविद्यालय परिसर के भीतर और बाहर किस प्रकार लड़की को परेशान किया जाता है। उपन्यास में वर्णित संवाद के माध्यम से लेखक ने पुरुषवादी समाज की रुग्ण मानसिकता को इस प्रकार दिखाया है-
"'आ रही है।' एक लड़का बोलता है।
'हाय मेरी जान!' पास आने पर उनमें से दूसरा लड़का बोलता है।"[2] इस प्रकार के ओछी शब्दों से प्रायः लड़कियों को दो चार होना पड़ता है। लड़कियों के मन में इस प्रकार के शब्दों से भय का माहौल बना दिया जाता है। जिसका वर्णन करते हुए लेखक लिखते हैं- "लड़की को लगता है, उसके सलवार-कुर्ते के अन्दर एकाएक काले चींटे भरभरा कर निकल आये हैं। वह घबराहट में अपने वक्ष पर अपना तह किया हुआ सफ़ेद-मटमैला दुपट्टा ठीक करती है।"[3] इसके साथ ही अपनी यौन तृष्णा की पूर्ति के लिए मैम के पास आया हुआ मेहमान लड़की को हवस को दृष्टि से देखता है। जिसका वर्णन करते हुए लेखक लिखते हैं- "लड़की तब से सिर्फ़ एक बार अवन में पकायी हुई मुर्गे की टाँगें लेकर मेहमान के सामने ड्राइंग रूम में गयी थी। मेहमान ने हाथ का गिलास रखते हुए भरपूर नज़र से उसे देखा। लड़की की नज़रें नीची थी। उसने मेहमान की नज़र को अपने तन पर रेंगता हुआ महसूस किया। लड़कियाँ बिना देखे भी पुरूष के देखने को देखता हुआ महसूस कर लेती हैं। लड़की मुर्गे की टाँग रखकर लौटी तो उसने अपनी

[1] निष्कासन, पृष्ठ-16
[2] वही, पृष्ठ- 25
[3] वही, पृष्ठ- 25

पीठ पर गड़ी हुई दो आँखें महसूस कीं।"[1] अतः दूधनाथ सिंह ने पुरुषों की- स्त्रियों के प्रति ऐसी ओछी दृष्टि को स्पष्टता के साथ दिखाया है।

इसी प्रकार की घटना समाज में स्त्रियों के साथ प्रायः घटती रहती है। छात्रावास से निष्कासन के बाद लड़की जिस जगह पर ठहरती है वहाँ भी कुछ लड़के उसको मानसिक रूप से इतना परेशान कर देते हैं कि वह आत्महत्या कर लेती हैं। लड़की की इस मनोस्थिति का बड़ा ही मार्मिक वर्णन लेखक करते हैं। वे लिखते हैं-

"'यह ले।' पहला लड़का, जो गली में लड़की का रास्ता रोके खड़ा था, उसने कंडोम का एक पैकेट लड़की की ओर बढ़ाते हुए कहा।

लड़की ने दामन बचाया और आगे निकल गयी।

'ले-ले, तेरे काम आयेगा।' लड़का फिर आगे आया।

लड़की फिर बच कर आगे हो गयी।

'यार से मिल्ली है, हमसे कब होगी?' लड़के न पीछे से चिल्लाकर कहा।

'बिदकती है साली!' दूसरे लड़के ने कमर में कट्टा खोंसते हुए कहा।

लड़की जब सड़क पर पहुँची तो हाँफ़ रही थी।"[2] स्पष्ट है कि जब इस प्रकार किसी लड़की को किसी समाज के गुंडे से सामना करना पड़ता होगा तो उनकी मानसिक दशा कैसी होती होगी? गौरतलब हो कि लेखक ने समाज के आवारा गुंडों के साथ-साथ समाज में छिपे शिक्षित गुंडों को भी बेनकाब किया है। जातिगत भेदभाव करने वाले शिक्षक-शिक्षिका भी समाज में छिपे हुए गुंडे ही हैं जो इस प्रकार की घटनाओं को प्रश्रय देते रहे हैं। ये समाज में छिपे हुए गुंडे ही हैं जिन्होंने अपने फायदे के लिए शैक्षणिक संस्थानों को चकलाघर में तबदील कर दिया है। ऐसी ही सवर्णवादी मैम ने अपने फायदे के लिए संस्थान की लड़कियों के अपने मेहमान यौन तृष्णा को तृप्त करने के लिए विवश कर देती है। इसी तरह एक दिन

---

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 46

[2] वही, पृष्ठ- 141

लड़की को भी बुलाया जाता है लेकिन लड़की अपने आत्म सम्मान बचाते हुए इनकार कर देती है जिसकी प्रतिक्रिया में यह सवर्णवादी मैम उसे बुरी तरह पीटती है। लेखक लिखते हैं- "एकाएक मैम पीछे से लपकीं और उन्होंने झपट कर लड़की की साड़ी का पल्ला पकड़ा और ज़ोर से खींच लिया। लड़की इस अप्रत्याशित आक्रमण से पीछे को गिरते-गिरते बची।...मैम ने साड़ी फेंकी और अपनी दोनों मुट्ठीयाँ बन्द करके बेतहाशा लड़की की छातियों को मुकियाने लगीं। लड़की ने डर के मारे एक हाथ से पेटीकोट का नाड़ा पकड़ा हुआ था और दूसरे से अपने वक्ष को बचाने में लगी थी।"[1] मैम का यों पीटना मानो उपन्यास के पात्र नन्हें लाल की बात को सार्थक करता है कि- "तो डरो। डर कर रहो इस समाज में। इतनी धौंस से मत रहो, स्वाहा हो जाओगी- समझीं।"[2]

ऐसा माना जाता है कि नारी केवल पुरुषों द्वारा प्रताड़ित नहीं होती है, बल्कि स्त्रियों द्वारा भी स्त्रियों का शोषण किया जाता है। लेखक ने समाज की इस सच्चाई को भी इस उपन्यास के माध्यम से दर्ज किया है। मैडम डॉ. महिष्मति सिंह जो कि स्वयं एक स्त्री है पर वही छात्रावास में रहने वाली दूसरी लड़कियों का शोषण कर रही है। लड़कियों को अपने मेहमान की सेवा सत्कार करने के लिए विवश कर देती है। मैम इस चरित्र को दिखाते हुए दूधनाथ सिंह लिखते हैं- "मैम इस खुशगवार मौसम के संयोग पर खुश हैं क्योंकि लड़की को पुलोवर नहीं पहनना पड़ेगा और उसका तन अपने पूरे मौसम के साथ मेहमान के सामने खुलेगा।"[3] मैम के साथ-साथ उसकी नौकरानियां भी इस कुकृत्य में मैम का साथ देती रहती हैं। कभी किसी ने विरोध नहीं किया। उनकी भी आँखें इस प्रकार के दृश्य देखने की आदी हो गई हैं। जैसा कि लेखक लिखते हैं- "खानसामिन और माई, दोनों उस लड़की को डबडबाई आँखों से देख रही हैं। इसके बावजूद माई की आँखें निर्विकार हैं, मानों ऐसे दृश्यों की वह आदी हो चुकी हो- निर्विकार, उदास और सुन्न।"[4]

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 47
[2] वही, पृष्ठ- 86
[3] वही, पृष्ठ- 12
[4] वही, पृष्ठ- 11

वर्तमान समय में भी समाज में यह अवधारणा बनी हुई कि लड़कियां पढ़-लिख कर क्या करेंगी? जैसा कि उपन्यास में एक लड़का लड़की को सुना कर बोलता है- "लम्बा झाड़ू पकड़ा दो भाइयों, ये पढ़-लिख कर क्या करेगी?"[1] अतः इस उपन्यास के माध्यम से दूधनाथ सिंह समाज में स्त्रियों के प्रति इस धारणा को भी रेखांकित करते हैं। लड़कियों के शिक्षा को लेकर वर्तमान समय के अभिभावकों का क्या रुख है इस बात को भी लेखक ने स्पष्ट तौर पर दिखाया है। वर्तमान समय के अभिभावक अपनी लड़कियों के लिए तुरन्त वर का प्रबन्ध न कर सकने के कारण उनको विश्वविद्यालयों में दाखिला लेने देते हैं ताकि उसका बायो-डेटा बढ़ता रहे। गौरतलब हो कि अभिभावक को अपनी लड़की की बायो-डेटा में बढ़ोतरी उसके विवाह के लिए है न कि उसकी नौकरी को लेकर। पुरुषवादी समाज की इस मानसिकता का अनुभव करते हुए दूधनाथ सिंह लिखते हैं- "शिक्षा के अस्तित्व का संग्राम छिड़ा होता है, जिसमें बिना घायल हुए बच निकलना बड़ा कठिन होता है।...लेकिन कुछ अपने माँ-बाप की महत्वाकांक्षाओं या अपने ज़हीन होने की वजह से आगे इन बड़े नगरों के ऐतिहासिक विश्वविद्यालयों में पहुँचती है। कुछ इस वजह से भी कि माँ-बाप तुरन्त उनके लिए वर का प्रबन्ध नहीं कर सकते और इन्तज़ार और सुविधा और बॉयो-डेटा की बढ़ोत्तरी के लिए उन्हें तब तक के लिए यूनिवर्सिटियों में डाल देते हैं।"[2] इस प्रकार लेखक इस कथन के माध्यम से अभिभावकों पर हावी इस पुरुषवादी मानसिकता का स्पष्ट वर्णन करते हैं।

बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार स्त्रियों की सामाजिक दशा में भी परिवर्तन हुए है। युगानुकूल स्त्रियाँ अब अपने भविष्य का निर्णय स्वयं करने में सक्षम हैं। दूधनाथ सिंह स्त्रियों के सामाजिक दशा में आए परिवर्तन को भी इस उपन्यास में रेखांकित करते हैं। उपन्यास में देखा जा सकता है विश्वविद्यालय परिसर की जनरल सेक्रेटरी मैत्रेयी मिश्रा विचारों से सवर्णवादी हैं लेकिन लेखक ने उसके 'बोल्ड' चरित्र के माध्यम से स्त्रियों में आए सामाजिक बदलाव को दिखाने का प्रयास किया है। मैत्रेयी का यह कथन-

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 25

[2] वही, पृष्ठ-21

"साल्ला, गुलामी करायेगा मझसे? कफ़ पर बटन टाँको। स्मार्ट बन कर झंडे को सलामी देगा। मेस में दारू और तीनपत्ती खेलेगा आधी रात तक, और बीवी घर में बैठ कर झँखेगी? आने दीजिए मैम, इस बार वारा-न्यारा करे देती हूँ साले का! दाम लगाता है हरामज़ादा! ऐसे नहीं तो फेरे ले कर नकेल डालने के फेर में है?"[1] पुरुषवादी समाज के गाल पर पड़ा वह तमाचा है जो यह सूचित करता है कि स्त्रियाँ अपने जीवन का निर्णय स्वयं लेने में सक्षम हैं। लेकिन यह कदापि नहीं कहा जा सकता की वर्तमान समय में उनकी स्थिति में पूरी तरह बदलाव आया है क्योंकि आज भी समाज में स्त्री उत्पीड़न की घटनाएं देखी जा रही हैं। स्त्रियों की बदली हुई इस स्थिति को 'माई का शोकगीत' कहानी में भी देखा जा सकता है जिसमें एक औरत कहती है- "हम कहते हैं कि जब तक हम खाना पकाते रहेंगे, गुलाम बने रहेंगे। और गुलाम बने रहेंगे तो लतियाए भी जाते रहेंगे। तुम और तुम्हारे गान्हीं महतमा भारतमाता को सौ बार सात-समुन्दर पार से छुड़ा लायें...ये गुलामी बनी रहेगी। गयीं तो थीं ये बूढ़ा माई...कनियाँ को छुड़ाने। छुड़ा लाईं? आज भी कनियाँ जाँता पीसती हैं, रोटी पाथती हैं और ऊपर से लतियायी-लथेरी जा रही हैं।..."[2]

आज हम इक्कीसवीं सदी में जी रहे हैं लेकिन आज भी यह वर्णाश्रमवादी समाज अंतरजातीय विवाह को स्वीकार नहीं करता है। वर्तमान समय में भी स्त्रियों के जीवन के निर्णय उसके घर के पुरुष ही लेते हैं चाहे वह पिता हो, भाई हो या पति। विशेषकर विवाह के मामले में पुरुष ही तय करते हैं कि लड़की की शादी किससे होगी, कहाँ होगी मानो लड़की स्वतंत्र न होकर किसी की गुलाम हो और उसे अपनी जिंदगी के फैसले खुद लेने का अधिकार न हो। आज भी समाज में कई जगहों पर अंतरजातीय विवाह करने पर वर-वधू को षड़यंत्र कर मार दिया जाता है, ताकि, लोगों में इस पुरुषवादी समाज की दहशत बनी रहे। इस मामले में भी स्त्रियाँ ही अधिक उत्पीड़न का शिकार होती हैं। विवेच्य उपन्यास में डीन का यह कथन कि- "एक बाँभन लड़के का एक खटकिन बाला में रुचि लेना ठीक नहीं है सर!"[3] पुरुषवादी मानसिकता को द्योतक है। वहीं दूसरी ओर डॉ छागला के स्थान पर नियुक्त हुए श्री रामलाल

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 20
[2] माई का शोकगीत, पृष्ठ- 88
[3] निष्कासन, पृष्ठ- 82

यथार्थ जो जन्मना दलित लेकिन बचपना शिखाधारी और शाखाधारी हैं। जब वे जानते हैं कि लड़का ब्राह्मण है और लड़की दलित तो उसकी प्रतिक्रिया को लेखक इस प्रकार व्यक्त करते हैं- "श्री रामलाल यथार्थ को यह जान कर गहरा धक्का लगा कि लड़का, लड़की का भाई नहीं बल्कि प्रेमी है और जन्मना सवर्ण है और उसमें भी ब्राह्मण, जो सीधे ब्रह्मा के मुख से पैदा हुआ है।"[1]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि दूधनाथ सिंह ने अपने इस उपन्यास के माध्यम से समाज की पुरुषवादी मानसिकता पर कड़ा प्रहार किया है। पुरुषवादी समाज में स्त्रियाँ कई स्तरों पर शोषित होती रहती हैं इस बात को भी लेखक ने स्पष्टता के साथ रेखांकित किया है। यह एक विचारणीय प्रश्न है कि आजादी के इतने वर्ष बाद भी स्त्रियाँ कितनी स्वतंत्र हुई है? देश की स्वतंत्रता के साथ स्त्रियाँ कितनी स्वतंत्र हुई हैं? और हुई हैं तो कितनी हुई है? दूधनाथ सिंह ने इसकी ओर भी इशारा किया है। वे लिखते हैं कि- "इतनी महान ऐतिहासिक उपलब्धियों की देहरी पर, जहाँ एक नया-विशालकाय सूरज अपनी रोशनी से नयी शताब्दी को सुहाग का सिन्दुर चढ़ाने वाला है, वहाँ इस टुच्ची-सी रात में एक कलूटी-सी लड़की का बद्हवास, इधर-उधर अँधेरे में भागना और बचना क्या मतलब रखता है?"[2] किसी भी समाज की उन्नति का अनुमान उस समाज की महिलाओं की उन्नति से लगाया जाता है। समाज के निर्माण में दोनों की निर्णायक भूमिका रहती है। लेकिन हमारे समाज में स्त्री की समस्यायों को लेकर लंबी-लंबी बहसें तो होती हैं लेकिन स्त्रियों की समस्या का समाधान कितना हो पाता है। पुरुष बाहर में तो स्त्री उत्थान की इतने लंबे-लंबे बखान देता है लेकिन वही पुरुष घर जाकर अपनी पत्नी का शोषण करता है। अतः दूधनाथ सिंह 'माई का शोकगीत' में गंगा माई के माध्यम से स्त्रियों की इस पीड़ा को व्यक्त करते हैं- "भारत माता सात-समुन्दर पार एक काल कोठरी में बन्द हैं। एक ठो सफेद राच्छस पहरा दे रहा है। हमें छुड़ाना है...हम कहते हैं। कनियाँ इचकी देर चुप रहती हैं। फिर बोलती है, 'गंगा माई, एक ठो बात कहें, बुरा तो नहीं मानोगी?'...और कनियाँ हमारे गले लिपट जाती हैं। थोड़ी देर वैसे ही पड़ी

[1] निष्कासन, पृष्ठ- 132

[2] वही, पृष्ठ- 51

रहती हैं। फिर कहती हैं, ‘सखी, तनी हमारी पीठ उघारो तो।’ तो हम कनियाँ की पीठ उघार देते हैं। क्या देखते हैं कि पीठ पर कइन की संटी पड़ी है। रकत जम गया है गोरी-गोरी पीठ पर।...तभी कनियाँ कहती हैं, पहिले हमके छुड़ाओ न सखी! हम भी तो काल-कोठरी में बन्द हैं। हमारी भी तो कुर्ती फट गयी है। हम भी तो बेपर्द हो गये हैं। इहाँ भी तो एक ठो राच्छस पहरा दे रहा है।”[1]

[1] माई का शोकगीत, पृष्ठ- 80

उपसंहार

आजादी के बाद सन् साठ का दशक वह दशक है जिसने भारतीय जनमानस के साथ-साथ हिंदी साहित्य के धरातल को भी झकझोर कर रख दिया। आजादी के बाद देश की बागडोर अवसरवादी राजनेताओं के हाथ में जाने से चारों तरफ बेरोजगारी, भ्रष्टाचार और अराजकता फैल गयी। लोगों में एक बार पुनः भय का माहौल उत्पन्न हो गया। जनता चारों ओर त्राहि-त्राहि करने लगी। लोगों का आजादी, प्रजातंत्र जैसे थोथे शब्दों से विश्वास उठने लगा था। अतः देश की इस बदहाल स्थिति को देखकर तत्कालीन साहित्यकारों ने सत्ता के विरोध में लिखना शुरू किया। इस पीढ़ी के साहित्यकारों ने पूरी निर्भीकता के साथ सत्ता तंत्र का विरोध अपने साहित्य के माध्यम से किया। एक प्रकार से इस पीढ़ी के अधिकतर कथाकार नेहरू युग के बाद के स्वप्न भंग के कथाकार रहे हैं।

दूधनाथ सिंह साठोत्तरी साहित्य के एक स्तंभ रचनाकार माने जाते हैं। दूधनाथ सिंह बहुत अधिक पढ़ने-लिखने वाले सृजनशील साहित्यकार थे। उनकी रचनाएं जीवन से लड़ने की प्रेरणा देती हैं। वे सदैव जनता के हितों की बात करते हैं। उनकी तमाम रचनाएं उनकी जनपक्षधरता का प्रमाण देती हैं। अपने समय के समाजिक यथार्थ का इन्होंने बड़ी ही निर्भीकता और स्पष्टता के साथ अपने कथा साहित्य में वर्णन किया है। जो लेखक समाज से जितना जुड़ा होता है, उसकी रचना उतनी ही जीवंत लगती है। ऐसे में उनकी रचनाएं समाज से उनके गहरे जुड़ाव को दिखाती हैं। दूधनाथ सिंह अपनी रचनाओं में शुरू से ही आम जनमानस की समस्याओं को उठाते रहे हैं।

सन् साठ के दशक में ओछी राजनीति का प्रवेश शिक्षण संस्थानों में होता है। इस राजनीति के साथ समाज में सदियों से व्याप्त लिंग भेद व जातिवाद जैसी कुरीतियाँ भी शिक्षण संस्थानों में प्रवेश कर जाती हैं। प्राचीन काल से ही हमारी तथाकथित सवर्ण समाज ने स्त्रियों व दलितों को शिक्षा से वंचित रखने की पुरजोर कोशिश की है। स्त्रियों व दलितों को शिक्षा से वंचित रखने के अनेक उद्धरण इतिहास में देखने को मिल जाएंगे। इस दृष्टि से सन् 2002 में प्रकाशित 'निष्कासन' उपन्यास दूधनाथ सिंह की

एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण कृति है। अपने लघु कलेवर में यह उपन्यास समाज के उपरोक्त पहलुओं पर न केवल विचार करता है, बल्कि उसका यथार्थ दृश्य भी प्रस्तुत करता है। दूधनाथ सिंह अपने इस उपन्यास के माध्यम से स्वतंत्र भारत के भ्रष्ट शिक्षातंत्र के साथ-साथ भारतीय वर्णाश्रमवादी समाज की राजनीति का भी जीवंत वर्णन करते हैं। उपन्यास में 'लड़की' का मृदुला साराभाई छात्रावास से निष्कासित किया जाना और उसकी आत्महत्या करना स्वतंत्र भारत की सत्ता व्यवस्था पर प्रश्न खड़ा कर देता है।

यह उपन्यास स्वतंत्र भारत के शिक्षण संस्थानों में दलित और स्त्री, विशेषकर दलित स्त्रियों की पीड़ा को अत्यंत ही मार्मिकता के साथ व्यक्त करता है। आज युग कहाँ से कहाँ पहुंच गया है पर हमारी मानसिकता में ज्यादा बदलाव नहीं हुआ है। यह उपन्यास इस बात को रेखांकित करता है। वर्तमान समय में भी दलितों और स्त्रियों की प्रगति के मार्ग में वर्णाश्रम समाज रोड़ा बना हुआ है। पुरुषवादी सवर्ण समाज की हमेशा से ही यह कोशिश रही है कि दलित और स्त्री समाज में आगे न बढ़ पाए। आज भी शिक्षण संस्थानों में दलित समुदाय के छात्र-छात्रा जातिवादी राजनीति का शिकार बनते हैं। वर्तमान समय में भी देश के तथाकथित बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों में दलित छात्र-छात्राओं की आत्महत्या की खबर सुनने को मिल जाती है।

भारतीय समाज में देवी के रूप में पूजनीय स्त्रियों को सदियों से उपेक्षित समझा जाता रहा है। समाज में इनकी भागीदारी नगण्य मानी जाती रही है। स्त्रियों को केवल भोग की वस्तु के रूप में देखा जाता रहा है। यह हमारे समाज की विडम्बना ही है कि समाज में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने वाली स्त्रियों को इस पुरुषवादी समाज ने हाशिए पर धकेल दिया है। आजाद भारत की पचहत्तरवीं वर्षगांठ पूरी होने को है, पर आज भी समाज में आए दिन निर्भया, उन्नाव, कठुआ, हाथरस जैसी दिल दहला देने वाली घटनाएं होती रहती है। आए दिन अख़बारों के पृष्ठों पर किसी स्त्री के यौन शोषण, अत्याचार जैसे मामले देखने को मिल ही जाते हैं। उपन्यास समाज के पुरुषवादी रूप को भी यथार्थता के साथ दिखाता है।

यह उपन्यास वर्तमान समय की अवसरवादी राजनीति का भी यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करता है। 'लड़की' के संघर्ष के माध्यम से दूधनाथ सिंह मौकापरस्त राजनेताओं को बेनकाब करते हैं। यद्यपि दूधनाथ सिंह वामपंथी पार्टी के सक्रिय सदस्य थे तथापि अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने वामपंथी पार्टी की कमियों को दिखाया और अवसरवादी राजनेताओं को बेनकाब किया है। दूधनाथ सिंह ने शार्दूल विक्रम सिंह जैसे चरित्र को गढ़ कर मार्क्सवाद की व्यवहारिक कमजोरियों को रेखांकित किया है। इसके साथ ही उन्होंने दक्षिणपंथी राजनीति का भी पर्दाफाश किया हैं। इसके साथ ही दूधनाथ सिंह ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि राजनीति में दलितों की भागीदारी के पीछे प्रभुत्वशाली वर्ग के राजनेताओं की क्या मंशा होती है।

विवेच्य उपन्यास के माध्यम से लेखक ने सत्ता में पहुँचे दलित समुदाय के अवसरवादी दलित राजनेताओं के दोहरे चरित्र का भी पर्दाफाश किया है। महामहिम, नन्हें लाल खटिक जैसे अवसरवादी नेताओं के चरित्रों के माध्यम से लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार कोई दलित नेता अपनी सामाजिक और आर्थिक स्थिति में सुधार आते ही अपने समुदाय की पीड़ा को भूल जाता है। दूधनाथ सिंह ने समाज के इस सच्चाई से भी रूबरू करवाया है कि जाति के भीतर वर्ग है और वर्ग के भीतर जाति है। इस सच्चाई से कदापि इनकार नहीं किया जा सकता है कि दलित दलितों द्वारा या स्त्री स्त्रियों द्वारा प्रताड़ित नहीं होती है। विवेच्य उपन्यास के माध्यम से दूधनाथ सिंह ने समाज की इस कड़वी सच्चाई को भी चित्रित करने का प्रयास किया है।

वस्तुतः देखा जाए तो अपने लघु रूप में यह उपन्यास वृहत्तर भारत की छवि को प्रस्तुत करता है। इस प्रकार यह उपन्यास वर्तमान समय में छीजते जाते मानवीय मूल्यों को बड़ी ही सजीवता के साथ वर्णित करता है। लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से दलितों में आ रहे वैचारिक परिवर्तन को भी रेखांकित किया है। दलित वर्णाश्रम समाज के अत्याचार के आदी हो चुके हैं। इस अत्याचार से निजात एकमात्र संघर्ष करके ही पाया जा सकता है। उपन्यास में आयी लड़की की असहमति इसी बात का प्रमाण देती है कि अब कोई दलित लड़की इस व्यवस्था के आगे विवश होकर झुकेगी नहीं, बल्कि

इसके विरोध में अपनी आवाज को बुलंद करेगी, भले ही विरोध करते-करते उसे अंत में इस व्यवस्था के हाथों शिकस्त का सामना करना पड़े।

इसके साथ ही लेखक ने वर्तमान समय में देश के चौथे स्तंभ कहे जाने वाले मीडिया की भूमिका को भी प्रश्नांकित किया है। वर्तमान समय का मीडिया भी अपनी भूमिका का निर्वाह सही ढंग से नहीं कर रहा है। ज्यादातर मीडिया आज सत्ता के हाथों लगभग बिक चुका है। इसके साथ ही इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने न्यायालय को भी प्रश्नांकित किया है। भारतीय लोकतंत्र में न्याय की लिए अंतिम विकल्प न्यायपालिका है, लेकिन वह भी किसी मामले में दख़लन्दाज़ी न करने का बहाना बनाकर अपने को उससे अलग कर ले तो आम जन किसके पास जाएं? यह उपन्यास इस बात को भी रेखांकित करती है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने समाज में व्याप्त तमाम विसंगितियों का यथार्थ चित्रण किया है। समाज के विकास में योगदान देने के लिए बनी शिक्षण संस्थानों की वर्तमान समय और समाज में भूमिका संतोषजनक नहीं है। आज इक्कीसवीं शताब्दी में महिलाओं और दलितों की अस्मिता की रक्षा के लिए तमाम सरकारी गैर सरकारी संगठन हैं, फिर भी वे अत्याचार या शोषण को रोकने में विफल हैं। इस व्यवस्था से तंग आकर उपन्यास में मैडम महिष्मति सिंह के बंगले के पीछे वाले लॉन के नीम के पेड़ से लटक कर लड़की का आत्महत्या कर लेना प्रजातांत्रिक सरकार पर सवाल खड़े कर देती है। भले ही लड़की के पास से यह लिखा हुआ मिलता है कि- 'उसकी मृत्यु के लिए कोई जिम्मेदार नहीं है-तीस नम्बर।' लेकिन उपन्यासकार दूधनाथ सिंह ने उस छात्रा की आत्महत्या से उन तमाम सरकारी तंत्रों शिक्षा तंत्रों और तथाकथित समाजवादी, वामपंथी, दक्षिणपंथी नेताओं के दोहरे चरित्र को बेनकाब किया हैं। लेखक इस उपन्यास के माध्यम से यह प्रश्न हमारे समक्ष छोड़ जाते हैं कि क्या वास्तव में उस दलित छात्रा की आत्महत्या के पीछे कोई जिम्मेवार नहीं है? और जिम्मेवार हैं तो वह कौन हैं- सवर्णवादी मैम? यह पुरुषवादी समाज? या यह व्यवस्था? उसकी मौन आत्महत्या ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में कहे तो हमसे यह प्रश्न कर रही है कि- प्रश्नों के चक्रव्यूह में फँसे/ पूछ

रहे थे सभी/ कल मरे वे/ अब किसकी है/ बारी?.../ अब किसकी है/ बारी? बावजूद इसके पिछले दो दशकों में सर्वोच्च न्यायालय के आदेशानुसार हर संस्था में भेदभाव विरोधी अधिकारी, समान अवसर कक्ष, यौन उत्पीड़न विरोधी समिति आदि के गठन से एक सीमा तक स्थिति में अवश्य सुधार आया है।

संदर्भ ग्रंथ- सूची

आधार ग्रंथ

1. दूधनाथ सिंह: निष्कासन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2002

सहायक ग्रंथ

1. अनामिकाः स्त्री विमर्श का लोकपक्ष, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, आवृति, 2016
2. अनामिकाः पानी जो पत्थर पीता है, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, संस्करण, 2012
3. अनिता भारती: समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013
4. अमरनाथः हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि., नई दिल्ली, पाँचवा संस्करण, 2018
5. ओमप्रकाश वाल्मीकिः जूठन, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली, सातवाँ संस्करण-2020
6. ओमप्रकाश वाल्मीकि : दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, तीसरा संस्करण-2019
7. कमलेश संधुः भारतीय शिक्षा का इतिहास, किताबवाला, दिल्ली, 2016
8. कमलेश्वर : नई कहानी की भूमिका, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-1966
9. कौसल्या बैसंत्रीः दोहरा अभिशाप, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 2015
10. कृष्ण कुमारः राज, समाज और शिक्षा, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, 2019

11.गजानन माधव मुक्तिबोधः नये साहित्य का सौन्दर्य-शास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1971

12.गोपाल राय: हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सातवां संस्करण-2019

13.जोतीराव गोविन्दराव फुले: गुलामगिरी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण-2021

14.फणीश्वरनाथ रेणुः परतिःपरिकथा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2017

15.बी.आर.अम्बेडकरः जात-पांत का विनाश(अनु. एम.एल. परिहार), बुद्धम पब्लिशर्स, जयपुर, पहला संस्करण-2017

16.तेज सिंह (संपा.): अम्बेडकरवादी स्त्री-चिंतन, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011

17.दुष्यंत कुमारः साये में धूप, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, 2019

18.दूधनाथ सिंह: आखिरी कलाम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-2018

19.दूधनाथ सिंह: नमो अंधकारं, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-2013

20.दूधनाथ सिंह: जलमुर्गियों का शिकार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण-2015

21.दूधनाथ सिंह: माई का शोकगीत, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि.,नई दिल्ली, पहला संस्करण-1992

22.दूधनाथ सिंह: सपाट चेहरे वाला आदमी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण-1990

23.दूधनाथ सिंह: धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2001

24.दूधनाथ सिंह: सुखान्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण-1995

25.दूधनाथ सिंह: यमगाथा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण-1995

26.दूधनाथ सिंह: निरालाःआत्महन्ता आस्था, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पंचम संस्करण-2000

27.दूधनाथ सिंह: मुक्तिबोध साहित्य में नई प्रवृत्तियाँ, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पहला संस्करण-2013

28.दूधनाथ सिंह: तू फू, साहित्य भण्डार प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-2011

29.दूधनाथ सिंह: प्रेम कथा का अंत न कोई, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-1992

30.देवीशंकर अवस्थी : नई कहानी संदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2008

31.नामवर सिंह : कहानी नई कहानी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2012

32.प्रेमचंदः कुछ विचार, सरस्वती प्रेस, बनारस, तृतीय संस्करण, 1945

33.प्रोमिला कपूरः स्त्री शिक्षा एक मूल्यांकन, दुर्गा प्रकाशन, दिल्ली, 2013

34.बच्चन सिंह : हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007

35.मुजतबा हुसैनः समाजशास्त्रीय विचार, ओरियेन्ट ब्लेकस्वान, हैदराबाद, 2010

36.मोहिनी शर्माः हिन्दी उपन्यास और जीवन मूल्य, साहित्यसागर, जयपुर,1986

37.मैनेजर पाण्डेय: साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा) द्वितीय संस्करण-2018

38.मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, आवृति संस्करण, 2016

39.रमणिका गुप्ता, दलित हस्तक्षेप, अक्षर शिल्पी, दिल्ली, 2012

40.रविन्द्र अग्निहोत्रीः भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएं, रिसर्च पब्लिकेशन्स इन सोशल सांइसेज,

41.रामधारी सिंह दिनकरः संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पुनरावृत्ति, 2020

42.रामधारी सिंह दिनकरः परशुराम की प्रतिक्षा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पुनर्मुद्रण, 2010

43.विजयमोहन सिंहः आज की कहानी, राधाकृष्ण प्रा.लि., दिल्ली, संस्करण, 2002

44.विमल थोरातः दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008

45.श्रीलाल शुक्लः रागदरबारी, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली, चौदहवाँ संस्करण-2009,

46.सिमोन द बउआरः स्त्री उपेक्षिता (प्रस्तुति प्रभा खेतान), हिंदी पॉकेट बुक्स प्रा.लि., नयी दिल्ली, दूसरा रीप्रिंट-अक्तूबर, 2008

47.सूरज बड़तयाः सत्ता संस्कृति और दलित सौंदर्यशास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि., नई दिल्ली, 2010

48.सं. एस विक्रमः दलित महिलाएः इतिहास, वर्तमान और भविष्य, श्री नटराज प्रकाशन, दिल्ली, 2010

49.हजारी प्रसाद द्विवेदी: अशोक के फूल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण-2017

50.हजारी प्रसाद द्विवेदीः अशोक के फूल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, चौथा पेपरबैक संस्करण, 2017

51.हुकम चन्द भास्कर, दलित राजनीति के मुद्दे, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

52.हुमायूँ कबीरः स्वतन्त्र भारत में शिक्षा, राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली, 1955

पत्र-पत्रिकाएं

1. सं. विजय अग्रवाल: साहित्य विकल्प, वर्ष- 4, अंक- 6, जून, 2018
2. सं. विनोद तिवारी: पक्षधर, वर्ष- 12, अंक- 24, जनवरी-जून, 2018
3. सं. द्वय मणिक व जितेन्द्र यादवः अपनी माटी, वर्ष- 2, अंक- 21, जनवरी, 2016

वेबलिंक

1. https://www.bbc.com/hindi/india-42455275
2. https://www.bbc.com/hindi/magazine-59502017
3. https://www.rekhta.org/nazms/fareb-ali-sardar-jafri-nazms?lang=hi
4. http://wangmaya.blogspot.com/2007/09/blog-post_14.html?m=1
5. https://epgp.inflibnet.ac.in/Home/ViewSubject?catid=Ou87QKvJCO+SE37bEZFbPA==

AS PER THE UNIVERSITY POLICY, ANTI-PLAGIARISM SCREENING IS NOT REQUIRED FOR THE REGIONAL LANGUAGES

Librarian
Indira Gandhi Memorial Library
UNIVERSITY OF HYDERABAD
Central University P.O.
HYDERABAD-500 046.